परम पुनीत पर्व यह पावन...

परम पुनीत पर्व यह पावन,
भव्यों को लगता मनभावन।
विषय–कषाय की जलती ज्वाला,
चेतन को करती जो काला।।

दशलक्षण हैं शीतल नीर।
भव–भव की हर लेते पीर।।
निज को जान, क्रोध को भूलो,
मत संयोगों में तुम फूलो।।

छल–कपट, अरु लोभ को छोड़ो,
झूठ–असंयम से मुख मोड़ो।।
द्वादश तप में चित को पागो,
राग–द्वेष अरु मोह को त्यागो।।

तीन लोक में पर नहीं मेरा,
अब करना चैतन्य बसेरा।
वीतराग परिणति के नाम।
राग–द्वेष का अब क्या काम।

भव्यों को भादों भी सावन।
परम पुनीत पर्व यह पावन।।

- राजकुमार शास्त्री

भव आताप निवार, दशलक्षण वन्दौं सदा...

जैनदर्शन निवृत्ति प्रधान दर्शन है अथवा स्व में प्रवृत्ति एवं पर से निवृत्ति ही, जैनदर्शन है; परन्तु भगवान महावीर स्वामी के मोक्षगमन के पश्चात् पंचम काल का कृष्णपक्ष प्रारम्भ हुआ, जो अमावस्या की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहा है और सम्भवतः इसी दुष्प्रभाव से निवृत्ति प्रधान एवं स्वोन्मुखी दर्शन को प्रवृत्ति प्रधान एवं परोन्मुखी बनाने का प्रयास निरन्तर हो रहा है।

हमें भी अनादिकाल से परकर्तृत्व/परोन्मुखी वृत्ति/प्रवृत्ति की कुटेव पड़ी हुई है; अतः ये चर्चायें हमारे मनोऽनुकूल होने से हमें भाती भी हैं और हम अशुभ प्रवृत्ति को छोड़कर, शुभ प्रवृत्ति में लगकर, धर्म के भ्रम में अटक कर रह जाते हैं। उन शुभ्र/शुभ प्रवृत्तियों में उलझकर अपने आपको अन्य से कुछ अलग देखकर धर्मात्मा होने का भ्रम पाल लेते हैं और एक बार पुनः हम संसार-चक्र से निकलने के स्वर्णिम अवसर को गँवा बैठते हैं।

दशलाक्षणी पर्वाधिराज का शुभागमन हो रहा है। यह एक बार पुनः हमें सचेत करने आ रहे हैं कि जगत की प्रवृत्ति से निवृत्ति लेकर अपने आत्मस्वभाव को जानो/पहचानो।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य - ये धर्म के दशलक्षण हैं। धर्म वस्तु का स्वभाव है। मैं एक आत्म वस्तु हूँ; ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि मेरे स्वभाव हैं। क्षमा-मार्दव आदि भी आत्मा के ही भाव हैं, जो पर में से नहीं आते; यह आत्मस्वभाव आत्मा में, आत्मा से, आत्मा के लिए प्रकट होते हैं।

क्षमा आदि भाव जीव को सुख-शान्ति प्रदान करने वाले हैं, सुख-शान्तिमय ही हैं। इनसे विपरीत क्रोध-मान-माया-लोभ-असत्य-असंयम आदि विभाव जीव को संतप्त/संत्रस्त करने वाले हैं। हम अनादि से इन

विभावों को ही अपनाते आ रहे हैं, इसीलिए यह संसार परिभ्रमण निरन्तर चल रहा है। प्रत्येक जीव सुखस्वभावी है, परन्तु परोन्मुखी वृत्ति होने से दुःख की ही प्राप्ति कर रहा है, आकुलता/अशान्ति का ही वेदन कर रहा है।

दशलाक्षणी पर्व हमारे परिणामों के प्रक्षालन के लिए निर्मल जल के समान हैं। महामंगल अवसर है, जब हम भोग से योग की ओर, पर से स्व की ओर, असंयम से संयम की ओर, दुराचार से सदाचार की ओर, राग से विराग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर अपना कदम बढ़ा सकते हैं और यही कदम अशान्ति से शान्ति/संसार से मुक्ति की ओर का प्रथम कदम होगा।

पर्व अर्थात् पवित्र दिन अथवा जिन दिनों में पवित्रता प्राप्त की जा सके, उन्हें पर्व कहते हैं। पर्व का अर्थ गाँठ भी होता है अर्थात् कषायों की गाँठ खोलकर, निज आत्मा से गाँठ बाँधने/प्रीति जोड़ने वाले, दिनों/अवसरों को पर्व कहते हैं। **दशलाक्षणी पर्व साधर्मियों को धर्म संचय करने/धर्माराधन करने हेतु व्यापारियों की भाँति सीजन का अवसर है,** जिसे वे किसी लौकिक उपलब्धि के लिए कभी भी गँवाना नहीं चाहते।

दशलाक्षणी पर्व शाश्वत (अनादि-अनंत) पर्व हैं। यह पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं (चैत्र, माघ एवं भाद्र); परन्तु जब सर्वत्र नैसर्गिक सुन्दरता व्याप्त होती है, मुनिराजों का सहज समागम होता है; व्यापारादि कार्य कुछ शिथिल होते हैं, ऐसे समय अर्थात् भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक प्रतिवर्ष सम्पूर्ण विश्व में साधर्मियों द्वारा विशेषोत्साह से मनाया जाता है। दशलाक्षणी पर्व पूर्णतः आध्यात्मिक पर्व है, यह ज्ञानाराधना, संयम की साधना का पर्व है। धर्म समझने/समझाने/प्रकट करने का मंगलमय अवसर है।

परन्तु यह विडम्बना ही है कि पूर्णतः आध्यात्मिक दशलाक्षणी पर्व आज मात्र सांस्कृतिक कार्यक्रमों के पर्व बनते जा रहे हैं। जहाँ दर्शन (मत, सिद्धान्त) गायब है, मात्र प्रदर्शन ही प्रदर्शन हो रहा है। आयोजन है, पर

प्रयोजन रहित। कुछ पेशेवर संगीतकारों के साथ नाच-गान, लय-तान के साथ पूजन, रात्रि में नृत्य-गीत प्रतियोगितायें, हास्य-मनोरंजन के कार्यक्रम, कुछ सभाओं के अध्यक्ष, मुख्यातिथि, किसी को पुरस्कार, किसी का सम्मान, जिनमन्दिर का वार्षिक हिसाब-किताब और दशलक्षण पर्व सम्पन्न।

जो पर्व हमारी कषायों/मतभेदों/मनभेदों को नष्ट करने के लिए थे, वे ही पर्वाधिराज हमारी अज्ञानता से कषाय/मतभेद/मनभेद बढ़ाने के अवसर बन रहे हैं; यह हमारी खोटी चित्तवृत्ति का अनुपम उदाहरण है।

वस्तुतः यह पर्व सिर्फ पारम्परिक पर्व नहीं है, अपितु यह दशदिनी पाठशाला है, शिविर है, जिसमें हमें सत् संस्कार ग्रहण करने चाहिए। यह एक प्रयोगशाला है, जिसमें स्वयं की शोध-खोज की जाती है और जहाँ राग-द्वेष, क्रोध, मान आदि जैसे अपशिष्ट पदार्थों को निकालकर क्षमा-मार्दव रूपी शुद्ध तत्त्व प्रकट किए जाते हैं।

इन पर्वों के महत्त्व को समझें। वस्तुतः महत्त्व तभी समझ में आयेगा, जब हम इनका स्वरूप समझेंगे। इसके लिए जीवन में नियमित स्वाध्याय की आवश्यकता है।

यदि नियमित न हो सके तो भी कम से कम इन पर्व के दिनों में संसार-समुद्र से पार उतारने वाले दशलक्षणों का स्वरूप समझना चाहिए। इनका मर्म जाने बिना धर्म नहीं होगा, धर्म हुए बिना कर्म नष्ट नहीं होंगे और कर्म नष्ट हुए बिना, शर्म (सुख) की प्राप्ति नहीं होगी।

मानव जीवन एवं जैन कुल की सफलता पापनाशक, पुण्यवर्धक, सुखदायक इन्हीं दशलक्षणों के समझने/प्रकट करने में है। हमारा अन्तस्तल इनका सच्चा स्वरूप समझकर बोल उठे -

'भव आताप निवार, दशलक्षण वन्दों सदा।'

❑❑❑

उत्तम क्षमा गहो रे भाई...

धर्म के दशलक्षणों में से प्रथम लक्षण एवं दशलक्षण पर्व का प्रथम दिवस है, उत्तम क्षमा। सम्यग्दर्शन (श्रद्धा गुण की शुद्ध पर्याय) पूर्वक प्रकट होने वाली क्षमा का नाम ही उत्तम क्षमा है। उत्तम क्षमा इस लोक तथा परलोक में भी सुखदायिनी है। निश्चय से आत्मानुभूतिपूर्वक जो वीतराग परिणति (चारित्र गुण की निर्मल पर्याय) प्रकट होती है, उसे ही उत्तम क्षमा कहते हैं। वस्तुतः आत्मा क्षमास्वभावी ही है, परन्तु अज्ञानतावश जीव को इसकी पहचान न होने से वह क्रोध भावरूप परिणमन करता है। आत्मा को जानने की जिज्ञासा/रुचि न होना ही निश्चय से क्रोध है एवं पर पदार्थों को अनिष्ट/प्रतिकूल जानकर उनके प्रति द्वेष होना उन्हें, हटाने, नष्ट करने/कराने, अपमानित करने/कराने आदि के भाव होना व्यवहार से क्रोध है।

क्रोध को भुजंग (सर्प) के समान कहा गया है, जो अन्य को डसे या न डसे, पर क्रोध करने वाले को डसता ही है। जबकि उत्तम क्षमा, शीतल जल की भाँति शीतलता प्रदान करने वाली है। क्रोध में व्यक्ति अपना, परिवार, समाज सभी का बुरा करता है, यहाँ तक कि क्रोधी का सर्वस्व नाश हो जाता है।

कहा भी है -

क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्थितिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणस्यति।।

अर्थात् क्रोध से मूढ़ता होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रान्त, स्मृति भ्रान्त से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति का नाश हो जाता है।

व्यक्ति/मुक्ति/सुख का नाशक ऐसा क्रोध होता ही क्यों है? मानो इसका उत्तर देते हुए ही देव-शास्त्र-गुरु पूजन में बाबू जुगलकिशोरजी युगल लिखते हैं -

जड़–चेतन की सब परिणति प्रभु अपने–अपने में होती है।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है।।
प्रतिकूल संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है।।

अर्थात् यह जीव जगत के स्वचालित परिणमन में मिथ्यात्व/अज्ञानता के कारण अनुकूल–प्रतिकूल की कल्पना करता है और इसी कल्पना के आधार पर जो संयोग प्रतिकूल भासित (कोई भी पदार्थ/व्यक्ति/क्षेत्र/भाव न तो अनुकूल है, न ही प्रतिकूल) होते हैं, उन संयोगों पर क्रोधित होकर उन्हें हटाना या नष्ट करना चाहता है। यदि वे संयोग हटते नहीं हैं, तो वह जीव और आकुलित होता है और तीव्र पाप का बंध करते हुए आकुलता/अशान्ति/तनाव में रहते हुए आत्महत्या तक कर लेता है। क्रोध सर्वदा जलाने/झुलसाने वाला ही है, जबकि थोड़ी–सी व्यावहारिक/लौकिक क्षमा भी हो तो वह भी शान्तिप्रदायक है।

जैसा कि किसी कवि ने कहा है –

क्रोध कर मरे और मारे तो फाँसी होय,
किंचित् हू मारे तो जाय जेलखाने में।
जो कहूँ निबल भयो हाथ–पाँव टूट गए,
ठौर–ठौर पट्टी बँधी पड़े सफाखाने में।।
पीछे से कुटुम्बीजन हाय–हाय करत फिरत,
जाय–जाय पाँव पड़े तहसील और थाने में।।
किंचित् हू क्रोध किये एते दुःख होत भ्रात,
होत हैं अनेक गुण जरा गम्म खाने में।।

जरा–सा गम अर्थात् क्षमा अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्ति दिलाती है। जिसके हृदय में क्षमाभाव हो, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है। जबकि थोड़ा–सा भी क्रोध हाथ–पैर तुड़वाने, परिवार को संकट में डालने, पाप कर्म का बंधन कराने, मित्र को भी शत्रु बनाने, अनन्त आकुलता दिलाने वाला होता है।

विज्ञान भी कहता है कि जब मनुष्य क्रोध करता है, तब जीव की शक्तियाँ बाहर निकलती हैं, नष्ट होती हैं और जब वह अति प्रसन्न रहता है, तब वह बाहर की शक्तियों को प्राप्त करता है। अतः क्रोधित होकर हमें अपनी आत्मिक एवं शारीरिक शक्तियों का अभाव नहीं करना चाहिए, बल्कि क्षमाभाव से शक्तियों को वृद्धिंगत करना चाहिए।

क्षमा को कायरता का प्रतीक समझने की भूल की जाती है, पर ऐसा नहीं है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से क्रोध करना ही कायरता का प्रतीक है। जो व्यक्ति किंचित् मात्र पाप कर्म के उदय से, किंचित् अपमान में या अज्ञानियों द्वारा की गई निन्दा से आकुलित हो उठता है, अपने धैर्य को नष्ट कर देता है, वस्तुतः वही कायर है। जो पूर्वोक्त परिस्थितियों में समता भाव धारण करते हैं, अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी किसी को प्रतिकूल न मानकर अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझते हुए समताभाव पूर्वक क्षमाभाव धारण करते हैं, वे कायर नहीं, अपितु वे ही धीर–वीर हैं। इसीलिए कहा जाता है –

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'

क्योंकि पापोदय में होने वाली निन्दा/अपमान/अवज्ञा या हानि में ज्ञाता स्वभाव को भूलकर क्रोध करना वीरता की निशानी नहीं है, अपितु कायरता की ही निशानी है, जो किंचित् गाली, हानि के अवसर आने पर अपने स्वभाव को भूल गया। वास्तव में वीर तो वही है, जो किसी भी परिस्थिति में अपने धर्म/स्वभाव को नहीं भूलता। अतः क्षमा को ही वीरों का आभूषण कहा जाना उचित है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानीजन किसी का प्रत्युत्तर देने या प्रतिशोध लेने की क्षमता न होने से क्षमाभाव धारण करते हैं; अपितु वे तो प्रतिशोध की क्षमता धारण करते हुए भी अपने को सर्व संयोगों से भिन्न ज्ञानानंदस्वभावी जानकर, पर को क्षमा करते हैं; अपने अपमान, दुःख का

कारण कर्मोदय को मानते हैं, अन्य को नहीं अतः प्रतिशोध की भावना ही नहीं होती, वही उत्तम क्षमा है। जैसा कि कहा भी है –

प्रतिशोध समर्थोऽपि, यः आत्मभाव स्वभावतः।
क्षमिस्यति स्वपरान्, सा उत्तमा क्षमा भवेत्।।

प्रतिशोध शक्ति होते हुए भी जो आत्मा के सहज स्वभाव से स्व–पर को क्षमा करता है, उसको उत्तम क्षमा कहा गया है।

साथ ही जिनके पास कदाचित् प्रतिरोध करने की क्षमता नहीं है, तन/धन से कमजोर हैं तो भी यदि वे समता भाव धारण करते हैं तो वह भी वीर ही हैं, क्योंकि प्रतिशोध लेने में बाहर के साधन होने या न होने की मुख्यता नहीं है; दूसरे को बुरा जानना, उसका बुरा चाहना मात्र ही क्रोध है।

हमने वास्तव में अपने साथ ही क्रोध/बैर भाव धारण किया हुआ है; क्योंकि अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं स्वीकार करना ही क्रोध है। जिस तरह क्रोधित व्यक्ति शत्रु का मुँह भी नहीं देखना चाहता, उसकी बात भी नहीं सुनना चाहता; उसी प्रकार आज तक हमने अपना मुँह भी नहीं देखा, प्रीतिपूर्वक उसकी चर्चा भी नहीं सुनी, यही अपने साथ किया गया अनंतानुबंधी क्रोध है। अतः अपने सम्यक् स्वरूप का दर्शन/अनुभवन/प्रतीति का नाम ही उत्तम क्षमा है।

क्षमा अनेक कारणों से धारण की जाती है। सभी तरह की धारण की गई क्षमा प्रशंसनीय एवं लौकिक शान्ति का कारण है, पर सभी मुक्ति के कारण रूप या धर्मरूप उत्तम क्षमा नहीं है। जैसे –

1. मैं क्रोध करूँगा तो मुझे नुकसान होगा, इसलिए क्षमा करना।
2. मैं क्षमा करूँगा तो मुझे लाभ होगा, यश मिलेगा।
3. मैं क्षमा नहीं करूँगा तो कर्म बँधेंगे और नरक जाना पड़ेगा।
4. क्रोध नहीं करना, यह भगवान की आज्ञा है।

उक्त कारणों से की गई क्षमा सहज क्षमा नहीं है/उत्तम क्षमा नहीं है, परावलम्बी क्षमा है, अतः किंचित् शुभराग होने के कारण पुण्यबंध कारण है; पर मुक्ति का कारण नहीं है।

जो आत्मा की अरुचि छोड़कर, भेदज्ञानपूर्वक धैर्यता से आत्मस्वभाव में स्थिर होते हैं एवं बाह्य अनुकूल–प्रतिकूल प्रसंगों की जिन्हें चिन्ता भी नहीं होती, ऐसे दिगम्बर सन्तों को ही उत्तम क्षमा होती है, जिसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है।

आत्मस्वभाव के आश्रय से प्रकट होने वाली क्षमा ही वास्तविक उत्तम क्षमा है, जो कि मुक्ति का कारण है, धर्म है।

क्षमा की महिमा बताते हुए नीति श्लोक में कहा गया है –

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमं जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमं क्षमः।।

'करोड़ों पूजा के बराबर एक स्तोत्र है, करोड़ों स्तोत्रों के बराबर एक जप, करोड़ों जप के बराबर एक ध्यान और करोड़ बार किये गये ध्यान के बराबर एक बार की क्षमा बताई गई है।'

क्षमाभाव कैसे धारण करें?

सर्वप्रथम तो विश्व में प्रतिकूलता है ही नहीं – ऐसा निर्णय करना चाहिए। यदि व्यवहार से कोई प्रतिकूलता कही भी जाती है तो वह मेरे पापोदय से है और वह पापोदय मेरे द्वारा पूर्व में किये गये पाप परिणामों के फलस्वरूप ही है। जैसा कि कहा है – ''तैं करम पूरब किये खोटे सहै क्यों नहीं जीयरा।'' ऐसा समझकर चित्त को शान्त करते हुए हर परिस्थिति में क्षमाभाव धारण करना चाहिए।

यदि हम आत्महित चाहते हैं तो अज्ञानता से परपदार्थों में जो अनुकूलता–प्रतिकूलता की कल्पना है – इस कल्पना, मिथ्या मान्यता को सर्वप्रथम नष्ट करना होगा, हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि –

स्वयं-स्वयं में सर्व वस्तुएँ, सदा परिणमित होती हैं।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में व्यर्थ कल्पना झूठी है।।

जगत में कोई भी पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति, स्वयं में स्वयमेव, स्वयं के लिए परिणमित होता है। मेरा अहित करनेवाला, मेरा अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, क्रोधादि विभाव भाव ही हैं। बाहर का कोई भी व्यक्ति/पदार्थ मेरा भला-बुरा नहीं कर सकता है। इसलिए मुझे अज्ञानता, मोह-राग-द्वेष को जीतना है, तभी मैं सुखी हो सकता हूँ, अन्य पर क्रोध करने से नहीं। मैं तो मात्र सर्व का ज्ञाता हूँ।

उत्तमक्षमा का सम्यक् स्वरूप समझकर यथयोग्य क्षमाभाव धारण करना चाहिए। क्रोध कषाय से बचना चाहिए इसीलिए कहा है -

'उत्तम क्षमा गहो रे भाई! इह भव जस पर भव सुखदाई।'

❑❑❑

मुक्तक

धर्म के दशलक्षण

निर्मल आतम के उपवन में, गुण अनन्त के सुमन खिले।
जो व्याप्त क्षमा मार्दव आर्जव सत् शुचि संयम की सौरभ ले।।
तप त्याग अकिंचन ब्रह्मचर्य की अनुपम छटा बिखरती है।
परिणति कर में वरमाल लिये, चैतन्यराज को वरती है।।

क्षमावाणी

नश्वर परिणामों से करके, त्रैकालिक ध्रुव का मूल्यांकन।
चैतन्यराज के प्रति हमने अगणित अपराध किये प्रतिक्षण।।
ज्ञायक के अवलंबन से परिणति में क्षमा सलिल बरसे।
है क्षमा भाव सबसे प्रियवर, जीवन में शांति सुधा बरसे।।

- पं. अभयकुमार शास्त्री, देवलाली

उत्तम मार्दव विनय प्रकाशै...

धर्म के दशलक्षणों में दूसरा लक्षण है, उत्तम मार्दव। मार्दव का अर्थ है मृदुता/कोमलता। मान कषाय के अभाव में उत्तम मार्दव धर्म प्रकट होता है। बाह्य संयोगों (धन, बल, रूप) एवं प्रकट/प्राप्त ज्ञान (क्षायोपशमिक, क्षणिक) के होने पर स्वयं को अन्य से बड़ा मानना, अन्य को छोटा मानना अथवा इनके न होने पर दूसरों से छोटा/दीन-हीन मानना, समझना मान कषाय है। संयोगों से छोटा या बड़ा माननेवाला सदा ही परोन्मुखी/पराधीन दृष्टिवाला होने एवं अपने स्वभाव का तिरस्कार करने के कारण कषायी है। कहा भी है -

छोटे बड़े की भावना ही मान का आधार है।

मार्दवस्वभावी आत्मा के आश्रय से प्रकट होनेवाली वीतराग परिणति निश्चय से उत्तम मार्दव धर्म है, तथा समस्त आत्माओं में छोटे-बड़े की कल्पना से मुक्त होकर समानता का भाव/व्यवहार, व्यवहार से उत्तम मार्दव धर्म है।

सभी कषायें प्रत्येक अज्ञानी जीव के चारों ही गतियों में पायी जाती हैं, फिर भी मनुष्यगति में मान कषाय की अधिकता कही गई है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि - ''यदि मनुष्यगति में मान न हो तो यहीं मोक्ष हो जाये।''

अनन्त गुण सम्पन्न, अनादि-अनन्त आत्मस्वभाव को भूलकर अज्ञानता से क्षायोपशमिक ज्ञान, पूजा (यश,अधिकार) कुल (पिता, ताऊ, चाचा आदि), जाति (नाना, मामा आदि), बल, तप और रूप के होने पर अपने को बड़ा और न होने पर छोटा मानने से मान कषाय उत्पन्न होती है। एक ओर जहाँ कल्पित प्रतिकूलताओं के मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है; वहीं अनुकूलताओं/प्रशंसा/सम्मान मिलने पर मान कषाय होती है। दोनों ही कसने/दुःख देनेवाली हैं। शत्रुओं के निमित्त से क्रोध, मित्रों के

निमित्त से मान कषाय उत्पन्न होती है, इसलिए मान कषाय से बचना बड़ा कठिन है, क्योंकि क्रोध कषाय से तो मित्रगण बचा लेते हैं; पर वही मित्रगण हमारे बाह्य वैभव/रूप/पद की सच्ची-झूठी प्रशंसा करके मान के शिखर पर चढ़ा देते हैं। यह ऐसा पर्वत है जहाँ बैठकर अपने स्वजन भी तुच्छ जीव-जन्तु एवं स्वयं विशालकाय हाथी के समान दिखने लगता है। समानता, विनम्रता का भाव समाप्त हो जाता है, रह जाता है मान/घमण्ड/अहंकार।

हम यह नहीं समझ पाते कि धन, पद, परिवार पुण्योदय से प्राप्त सामग्री है, जो पापोदय आने पर एक क्षण में यहीं नष्ट हो जायेगी। यशकीर्ति के उदय से मान सम्मान मिल रहा है, अपयशकीर्ति के आते ही मित्रगण भी अपमानित करने लगेंगे। कहा भी है -

दिन दश आदर पाय के, कर ले आप बखान।
जब लग काक श्राद्धपक्ष, तब लग तुझ सम्मान।।

जिस प्रकार श्राद्ध पक्ष में कौए का हर जगह सम्मान होता है, तत्पश्चात् कोई घर पर बैठने भी नहीं देता; उसी प्रकार जब तक पुण्योदय है, तब तक मान-सम्मान, वैभव, बल मित्रगण हैं; पर पुण्योदय के क्षीण होते ही यह सभी नष्ट हो जाते हैं या छोड़कर चले जाते हैं। धनादि सामग्री परिश्रम से नहीं पुण्योदय से ही प्राप्त होती है, यह समझकर कर्तृत्व के अभिमान को दूर करना चाहिए।

मान के वशीभूत होकर जीव अनेकानेक अपराध करता है, पूज्य-पुरुषों का भी अपमान करता है। मानी के हृदय में कोमलता के स्थान पर कठोरता आ जाती है; जिस कठोरता के कारण वह अपने अलावा किसी अन्य को कुछ नहीं समझता।

रावण ने बल के मद में कैलाश पर्वत को उठाया, पर 72 जिनालयों की रक्षा हेतु बाली मुनिराज ने पैर के अँगूठे मात्र के दबाव से उसका बल मद खण्डित कर दिया।

रावण जैसा त्रिखण्डाधिपति, महाबली राजा (प्रतिनारायण) भी मान के कारण अन्ततः पराजित होकर नरकवासी हुआ। रावण को यह बात समझ में आ चुकी थी कि सीता मुझे स्वीकार नहीं करेगी, इसलिए सीता राम को वापस दे देना चाहिए; पर उसका मान सामने आ गया और विचार करने लगा कि मैं राम से युद्ध जीतकर ही सीता वापस दूँगा; अन्यथा सब मुझे कायर समझेंगे।

जानिहैं कायर मुझे नृपगण सभी संग्राम से,
तासे लड़ना है मुझे धनु बाँधकर अब राम से।
जीतकर अरपूँ सिया प्यारी जू उनको प्राण से,
यश होय मेरा विश्व में बेशक सिया के दान से।।

रावण विद्यावान्, शक्तिमान् था, पर साथ में अभिमान होने से उसकी समस्त विद्यायें निष्फल हो गईं। कहा भी है -

वीणेव श्रोत्रहीनस्य, लोलाक्षीव विचक्षुणः।
वयसो कुसुमालेव, विद्यास्तब्धस्य निष्फलाः।।

'जिस प्रकार बधिर मनुष्य के सामने वीणा, अन्ध मनुष्य के सामने चपल लोचना स्त्री और मृत मनुष्य के ऊपर डाली गई पुष्पमाला व्यर्थ है, उसी प्रकार अभिमानी मनुष्य की विद्या निष्फल है।

मान कठोर है, जो कठोर होता है वह टूट जाता है। दाँत पैदा बाद में होते हैं, पर कठोरता के कारण जल्दी टूट जाते हैं, जबकि जीभ जन्म से होती है, पर अपनी कोमलता के कारण मृत्यु पर्यन्त रहती है।

विद्या विनय देती है - यह एक नीति वाक्य है। साथ ही कुछ मनीषियों का कहना है कि ''विनय बिना विद्या नहीं।'' अभिप्राय यही है कि विनयपूर्वक ही विद्या प्राप्त की जा सकती है और विनयपूर्वक ही विद्या को सुरक्षित रखा जा सकता है। अविनीत मनुष्य को विद्या प्राप्त नहीं हो सकती, यदि हो भी जाये तो वह ठहरती नहीं है।

अविनीतस्य या विद्या, सा चिरं नैव तिष्ठति।
मर्कटस्य गले बद्धा, मल्लीनां मालिका यथा।।

'विनयहीन व्यक्ति की विद्या बन्दर के गले में पड़ी हुई मालती की माला के समान दीर्घ काल तक नहीं ठहरती है।'

मानी निरन्तर ही अहंभाव से ग्रस्त रहता हुआ 'मैं परिवार, समाज को संचालित करता हूँ' के कर्तव्य बोझ से दबा रहता है। मेरी इच्छानुसार ही परिजनों का संचालन हो, इस भावना से ओत-प्रोत रहने के कारण कदाचित् पुण्योदय से परिजनों/संयोगों का कार्य उसकी भावना के अनुरूप हो जाये तो अहंकारभाव में वृद्धि होती है और इच्छानुसार परिणमन न हो तो अपने आपको अपमानित मानकर अनन्त आकुलित होता है, पर को साम-दाम-दण्ड-भेद से बदलना चाहता है, नष्ट करना चाहता है और यदि ऐसा सम्भव न हो तो आत्महत्या तक कर लेता है।

परिश्रम से कमाया हुआ धन मान पोषण के लिए खर्च करने को तैयार हो जाता है। दूसरे को नीचा दिखाने व अपने को ऊँचा दिखाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु जगत में उच्चता तो पुण्योदय से ही प्राप्त होती है, इस सत्य को न जानने से दुःखी ही रहता है। मान चाहने वाले का इस लोक में अपमान ही होता है एवं परलोक में भी अधोगति की प्राप्ति होती है।

'मान महाविषरूप, करहिं नीच गति जगत में।' मान तो भयंकर जहर के समान है, जो उच्च बनने/दिखने वाले की अंततः नीचगति ही कराता है, जबकि मार्दव हृदय को कोमलता प्रदान करता है, विनम्रता से ओत-प्रोत करता है।

अतः सत्य ही कहा है -

'उत्तम मार्दव विनय प्रकाशै।'

❑❑❑

उत्तम आर्जव कपट मिटावै...

आर्जव का अर्थ है - ऋजुता/सरलता। सम्यग्दर्शन पूर्वक वीतरागी सरलता को उत्तम आर्जव धर्म कहते हैं। इस वीतराग परिणति के साथ-साथ माया कषाय के अभावपूर्वक, मन-वचन-काय की सरलता/एकरूपता को व्यवहार आर्जव धर्म कहते हैं।

अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर छल से स्वयं को मनुष्य, पुरुष, गोरा-काला या पुण्य-पाप वाला मानना ही वस्तुतः माया कषाय है तथा मन-वचन-काय की कुटिलता/वक्रता अर्थात् मन में कुछ चिन्तन करना, वचन से कुछ बोलना ओर काय से कुछ करना व्यवहार से माया कषाय है।

आज प्रत्येक प्राणी का उद्‌देश अपने कल्पित लक्ष्य की प्राप्ति करना हो गया है; इस हेतु चाहे छल-कपट करना पड़े, झूठ बोलना पड़े, बेईमानी, मिलावट, रिश्वतखोरी कुछ भी करना पड़े सब करने को तैयार है। यह कथित लक्ष्य प्राप्ति की अन्धी दौड़ मनुष्य को ऊपर से तो हँसमुख बनाती है, परन्तु अन्दर से अत्यन्त कुटिल बनाती है; इस काल में मानव बड़ा भोला-भाला अर्थात् ऊपर से भोला और अन्दर से भाला हो गया है। जिसके चिन्तन में कुछ, संभाषण में कुछ और क्रिया कुछ की कुछ होती है, ऐसे मायाचारी व्यक्ति के हृदय में धर्म/सुख का अवतरण नहीं हो सकता।

पण्डित सदासुखदासजी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं -

''जिस प्रकार टेड़े म्यान में सीधी तलवार प्रवेश नहीं करती है, उसी प्रकार ऊपर से वक्र परिणामी के हृदय में जिनेन्द्र का आर्जवरूप सरल धर्म प्रवेश नहीं करता है।''

जो आर्जवस्वभावी आत्मा का स्वरूप समझकर उसका आश्रय लेता है तथा समस्त जीवों को सिद्ध समान स्वीकार करता है, उसके ही निश्चय उत्तम आर्जव धर्म प्रकट होता है।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखते हैं –

जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णिय दोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स।।

''जो कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता तथा अपने दोष नहीं छिपाता, उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है।''

मायाचारी व्यक्ति सदैव मायाचार छल–कपट पूर्वक ही कार्य की सिद्धि करना चाहता है, जबकि कार्य की सिद्धि तो पुण्योदय हो तो होती है, न हो तो नहीं होती है पर यह जीव अज्ञानता से मायाचार को कार्य का कारक समझकर व्यर्थ ही पाप का बन्ध करता है, नित्य सशंकित/बेचैन रहता है; क्योंकि छल प्रकट होने का भय निरन्तर बना रहता है और इन शंकित/बेचैन परिणामों से पाप–बन्धन करता हुआ तिर्यंच गति में जन्म लेता है।

जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है –

'माया तैर्यग्योनस्य'

'मायाचारी व्यक्ति का परिणाम आड़ा–तिरछा परिणाम है, वह आड़ी गति अर्थात् तिर्यंच गति का कारण है।'

आचार्य उमास्वामी और भी कहते हैं कि –

'योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।'

'मन–वचन–काय की कुटिलता और साधर्मी के साथ विसंवाद करने से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है।' ऐसी कुटिलता/माया के सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहते हैं कि –

''माया कषाय अविद्या की भूमि है, अपयश का घर है, पापरूपी कीचड़ का बड़ा भारी गड्ढा है, शीलरूपी शालवृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है; क्योंकि मायावी की प्रकृति सदा दाहरूप होती है।'

माया कषाय चारों ही गतियों में एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी में पायी जाती है पर समझने/समझाने वाले मनुष्य होने से उनकी अपेक्षा ही कषाय एवं आर्जव धर्म का कथन किया गया है, जैसे कि मन–वचन–काय योगों की वक्रता/कुटिलता माया है या मन–वचन–काय की एकरूपता ही उत्तम आर्जव है।

कविवर द्यानतरायजी ने भी कहा है –

''मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।''

पर यहाँ यह प्रश्न है कि मन–वचन–काय तीनों की विरूपता को ही कषाय माना जाये तो एकेन्द्रिय जीव के तो मात्र काय ही है, अतः एकरूपता होने से उसे उत्तम आर्जव धर्म सहित, मायाचार रहित मानना पड़ेगा और आर्जवधर्म के धारक सिद्धों के मन–वचन–काय न होने से उन्हें आर्जव धर्म कैसे स्वीकार कर सकेंगे।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि योगों की सरलता/एकता आदि का कथन मनुष्यों की अपेक्षा है, क्योंकि समझने/समझाने वाले मनुष्य ही हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यह सभी दशलक्षण निर्ग्रन्थ मुनिराज को ही विशेषरूप से प्रकट होते हैं; अतः योगों की सरलता/एकता वस्तुतः उन पर ही घटित होती है।

जिनके लिए कहा गया है –

दिन–रात आत्मा का चिंतन, मृदु संभाषण में वही कथन।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रकट हो रहा अन्तर्मन।।

जो दिन–रात आत्म चिंतन में निमग्न रहते हैं और वचन भी हित–मित–प्रिय बोलते हैं।

पण्डित दौलतरामजी लिखते हैं –

जग सुहितकर सब अहितहर श्रुति, सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम रोगहर जिनके वचन, मुख–चन्द्रतैं अमृत झरैं।।

जिनका मन पवित्र है, उनके वचन अमृत के समान भव्य जीवों को लगते हैं। जिनवाणी मन-वचन-काय की एकता का संदेश देकर यही कहना चाहती हैं कि हम अपने मन में सर्व जीवों के प्रति समताभाव रखें, वचन भी समता रस से भीगे हों और अपने कार्य भी ऐसे हों, जो समता का सन्देश दें, यही मन-वचन-काय की एकता/सरलता व्यवहार से उत्तम आर्जवधर्म कही गई है।

सरल व्यक्ति सदैव विश्वसनीय/प्रशंसनीय होता है, जबकि कुटिल/मायाचारी/मिठबोला व्यक्ति का परिजन भी विश्वास नहीं करते। वह बोलता मधुर है पर हृदय में कालकूट जहर होता है - ऐसे मायाचारी जीवों से सदा दूर ही रहना चाहिए व स्वयं ऐसा मायाचारपूर्ण व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए। जो शिष्टाचार के नाम पर परस्पर में ऊपर-ऊपर एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं व अंतरंग में निन्दा का भाव रखते हैं, दूसरे का बुरा चाहते हैं ऐसे व्यक्ति का भरोसा नहीं करना चाहिए। किसी कवि ने कहा है -

अरकतिया के मुख नहीं, नहीं गोंच के दन्त।
जो नर मीठे बोलते, इनसे बचिये संत।।

'अरकतिया अर्थात् आरे के मुख नहीं है, जोंक नामक कीट के दाँत नहीं है पर वे धीरे-धीरे लकड़ी व जीव को काट डालते हैं, इसी प्रकार जो ऊपर-ऊपर मधुर बोलते हैं, मन में कपट रखते हैं, वे भी बहुत घातक होते हैं।'

निष्कर्षतः यही समझना चाहिए कि शिष्टाचारवश मात्र औपचारिक मृदुभाषी बनना अपनी सरलता या आर्जवधर्म नहीं है, अपितु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनयपूर्वक हृदय से सब जीवों के प्रति सरलता/समता/सहयोग/समर्पण/समन्वय का भाव रखने पर व्यवहार आर्जव एवं निजात्मा में आत्मबुद्धि प्रकट होने एवं अनादिकालीन कपट/मायाचार मिटने पर ही उत्तम (निश्चय) आर्जवधर्म प्रकट हो सकता है।

❑❑❑

उत्तम शौच लोभ परिहारी...

'शुचेर्भावः शौचम्' शुचिता का भाव शौच है।

अपवित्रता का अभाव होना ही शौच है। यहाँ शारीरिक अपवित्रता की बात नहीं है, क्योंकि यह विलक्षण-दशलक्षण आत्मा के स्वभाव हैं। आत्मा में आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाले भाव हैं; अतः आत्मा की अपवित्रता व पवित्रता के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए।

हम बहुधा शारीरिक पवित्रता को अपनी पवित्रता मान लेते हैं, इसीलिये हमारा ध्यान शारीरिक पवित्रता की ओर ही जाता है, पर वस्तुतः शरीर तो कभी पवित्र हो ही नहीं सकता; क्योंकि - **'ऊपर अमल मल भर्‌यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।'** तथा **'नित गंग जमुन समुद्र न्हाये, अशुचि दोष स्वभावतैं।'**

अशुचिता तो शरीर का स्वभाव है। **'नव द्वार बहैं घिनकारी।'** यह स्थिति ही यह बतलाती है कि शरीर के अन्दर मल-मूत्र-मांस-मज्जा आदि अशुचि रूप पदार्थ ही भरे हैं तभी तो नव द्वारों से वह बाहर निकल रहे हैं, इसमें किसी प्रकार का न तो आश्चर्य करना चाहिए और न ही शरीर में से कुछ अन्य निकलने की आशा/कामना करना चाहिए।

शरीर की कितनी भी सेवा करो, यह पवित्र नहीं होगा।

एक बार एक गाँव में बारात आयी। दूल्हे को बिठाने के लिए घोड़ा उपलब्ध नहीं हुआ, क्योंकि उस दिन शादियाँ बहुत थीं। तब किसी मनचले ने कहा कि भैया! घोड़ा तो नहीं मिल रहा, पर उससे मिलता-जुलता, उसके छोटे भाई जैसा गधा जरूर गाँव में है, आप कहें तो उसे ले आऊँ। तक किसी बुजुर्ग ने कहा कि क्या पागलपन की बात करता है; कहीं दूल्हे को गधे पर बैठाया जाता है? उसने कहा कि नहला-धुला कर, तैयार कर देंगे।

नहाने से गधा घोड़ा नहीं बन सकता। किसी भी साबुन से नहलाओ

पर कोयला सफेद नहीं हो सकता; उसी प्रकार शरीर को किसी भी क्षेत्र, काल व किसी भी वस्तु से नहलाने-धुलाने पर भी शुद्ध नहीं किया जा सकता।

इतना ही नहीं, इस शरीर की कितनी भी सेवा की जाये, यह हमारे साथ भी अगले भव में नहीं चलेगा।

एक बार अज्ञानी चेतनराज इस अशुचि-राजा काय को साथ ले जाने की भावना से उससे कहने लगे -

सोलह श्रृंगार विलेपन भूषण से निशिवासर तोहि सम्हारे,
पुष्टी करी बहु भोजन-पान दे, धर्म अरु कर्म सबैही विसारे।
सेये मिथ्यात्व, अन्याय करे, बहुते तुझ कारण जीव संहारै,
भक्ष गिनो न अभक्ष गिनो, अब तो चल संग तू काय हमारे।

तब इस निष्ठुर अशुचि-शरीर राजा ने जवाब दिया -

ये अनहोनी कहो क्या चेतन, भाँग खाय कैं भये मतवारे,
संग गई न चलूँ अबहूँ लखि ये तो स्वभाव अनादि हमारे।
इन्द्र-नरेन्द्र-धनेन्द्रन के नहिं संग गई, तुम कौन विचारे?
कोटि उपाय करो तुम चेतन, तो हू चलूँ नहिं संग तुम्हारे।।

अनादि से नई-नई देह मिलते हुए भी वह अगले भव में हमारे साथ भी नहीं जायेगी और पवित्र भी नहीं होगी; फिर भी श्रावक यथोचित शरीर की शुद्धता का ध्यान रखता है; पर ज्ञानीजन उस शुद्धता को शौचधर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते। वह तो शरीर रहते हुए निरन्तर यही विचार करते हैं-

यावन्न ग्रस्यते रोगैः, यावन्नाभ्येति ते जरा।
यावन्न क्षीयते चायुस्तावत्, कल्याणमाचर।।

'जब तक रोग उत्पन्न नहीं हुए हैं, बुढ़ापा नहीं आया है और आयु क्षीण नहीं हुई है, तब तक कल्याण कर लेना चाहिए।'

शरीर की पवित्रता से तो शौच धर्म प्रकट नहीं होता; पर पुण्य-परिणाम से भी आत्मा पवित्र नहीं होता; अपितु उन परिणामों में धर्मबुद्धि हो जाये तो मिथ्यात्व से मलिन ही होता है।

आत्मा की अशुचिता/मलिनता तो कषाय भाव से है। कषाय के अभाव होने पर ही उत्तम शौचधर्म प्रकट होता है।

जैसा कि डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने लिखा है -

यदि हड्डी अपवित्र है, तो वह तेरी नाहीं।
और खून भी अशुचि है, वह पुद्गल परछाहीं।
तेरी शुचिता ज्ञान है, और अशुचिता राग।
राग आग को त्यागकर, निज को निज में पाग।।

लोभ अन्तिम कषाय है अर्थात् इसका अभाव सबसे अन्त में 10 वें गुणस्थान में होता है अतः इसके अभाव होने पर समस्त कषायों का अभाव हो जाता है इसीलिये शौचधर्म को 'धर्म बढ़ो संसार में' तथा 'लोभ पाप का बाप बखाना' गया है।

लोभ को पाप का भी बाप कहने का हेतु सूक्तिकार कहते हैं -

लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहस्य नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम्।।

'लोभ से क्रोध होता है, लोभ से काम होता है, लोभ से मोह/प्रेम का नाश होता है।' लोभ सब पापों का कारण है।

लाभात् जायते लोभः।

जब हम परद्रव्यों से लाभ मानते हैं तो लोभ उत्पन्न होता है। परपदार्थ सुखमय लगने से उन्हें प्राप्त करने की आशा बलवती हो जाती है।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं -

'येषामाशा तेषां कुतः चित्तशुद्धिः।'

जिनके चित्त में आशा है, उनके चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती अर्थात् शौच धर्म प्रकट नहीं हो सकता।'

पापों के पिताश्री 'लोभ' मात्र धन के लोभ के रूप में नहीं हैं, यह तो अनेक रूपों में हमारे जीवन में व्याप्त है।

आचार्यों ने चार प्रकार का लोभ कहा है –

1. जीवन लोभ (जीने की तीव्र चाह) 2. इन्द्रिय लोभ (इन्द्रियों को स्वस्थ रखने व उनके विषयों की चाह) 3. आरोग्य लोभ 4. उपभोग लोभ।

इनके अतिरिक्त भी नाम, पद, धन, ज्ञान (जानकारियाँ एकत्र करने का लोभ) आदि अनेक प्रकार के लोभ हैं। एकेन्द्रियादिक में भी सभी लोभ विद्यमान हैं, जो हमें निजात्मा से दूर करके उक्त सामग्री को एकत्र करने में ही संलिप्त कर देते हैं और अन्ततः धर्म और धन दोनों से खाली हाथ दुनिया से विदा होना पड़ता है। जैसे मधुमक्खियाँ मधु (शहद) एकत्र करती हैं, पर न वे उसका भोग करती हैं, न किसी को देती हैं। अंत में लूटने वाले मधु लूटकर ले जाते हैं, साथ ही मधुमक्खियों के प्राण भी चले जाते हैं।

लोभी व्यक्ति धीर–वीर–संन्यासी की भाँति दूसरे द्वारा प्रशंसा करने या प्रताड़ित किये जाने पर भी अपने धन को स्व–पर के हित में खर्च नहीं करता है। धन के लाभ में धन एकत्र करता है और जब नाम का लोभ जागता है, तब धन का व्यय करता है; परन्तु लोभ कषाय खर्च नहीं करता। जो अनन्तगुणमयी, तीन लोक में सुन्दर अनादि–अनंत आत्मा के वैभव को जानता है, वही बाह्य वैभव के लोभ का त्याग करता है एवं लाभ–हानि, संयोग–वियोग में समताभाव धारण करता है; लोभ का अभाव होने से यही उत्तम शौच धर्म है।

इसीलिये कार्तिकेय स्वामी कहते हैं –

सम संतोष जलेण य, जो धोवदि तिण्ह लोहमलपुंजं।
भोजण–गिद्धि–विहीणो, तससु सुचित्तं हवे विमलं।।

'जो समता अर्थात् सन्तोषरूपी जल से तृष्णा रूपी महामैल को धोते हैं, यहाँ तक कि भोजन में भी जिनको गृद्धता अर्थात् तीव्र लालसा नहीं होती, उसी के उत्तम शौचधर्म कहा जाता है।'

यह आत्मा (मैं स्वयं) परम पवित्र पदार्थ है, पर क्रोध–मान–माया–लोभादि कषायों के द्वारा वर्तमान पर्याय में अपवित्र हो रहा है; यदि हमारा उपयोग धन, नाम, परिवार, समाज, इज्जत आदि को क्षणभंगुर मानकर अनादि–अनंत, अकृत्रिम परम पदार्थ की ओर आ जावे; तभी सब जीवों के प्रति समताभाव जाग्रत हो सकेगा और तभी निजानुभवपूर्वक उत्तमशौच धर्म प्रकट हो सकेगा।

❑❑❑

तृण-सम तुच्छ जानकर लक्ष्मी कोई ज्ञानी देते दान।
असन्तोष अरु पाप मूल लख बिना दिये तजते धीमान्।।
कोई महाविवेकी जन ग्रहते ही नहीं अहितकर जान।
त्यागी जाने त्याग इसे, उत्कृष्ट एक से एक महान।।
-आत्मानुशासन

❖❖❖

धन-पैसा तो आहार वर्गणा है, जड़ है, पुद्गल है; मैं जीव द्रव्य होकर जड़ पर क्या अभिमान करूँ।

❖❖❖

मुर्दे को भी मिलत है, जब लकड़ी कण्डा आग।
फिर भी जो चिन्ता करें, उनके फूटे भाग।।

सत्वादी जग में सुखी...

'सत् द्रव्यलक्षणम्' द्रव्य का लक्षण सत् है। आत्मा भी द्रव्य है, अतः वह भी सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से जो वीतराग परिणति प्रकट होती है; उसे निश्चय से उत्तम सत्यधर्म कहते हैं एवं वस्तु स्वरूप के अनुसार प्रिय व हितकारक वचन बोलने को व्यवहार सत्य धर्म कहते हैं।

सत्यधर्म के सम्बन्ध में जब भी विचार किया जाता है, तब सत्य वचन बोलने को ही सत्यधर्म कहा या मान लिया जाता है, परन्तु सत्यधर्म की सत्यता का गहराई से विचार किया जाये, तो सत्य वचन बोलना ही सत्यधर्म नहीं है; क्योंकि सिद्ध परमात्मा तो बोलते ही नहीं हैं तथा अनेकों मुनिराज भी सदा या अधिकतर मौन रहते हैं।

यदि हम सत्य बोलने को सत्यधर्म मानेंगे, तब उक्त परिस्थिति में वे मुनिराज व सिद्ध भगवान सत्यधर्म के धारक सिद्ध नहीं होंगे। तथा यदि ऐसा विचार किया जाए कि वह झूठ भी तो नहीं बोलते तो एकेन्द्रिय वचनशक्ति रहित हैं, वे भी झूठ नहीं बोलते तो फिर उन्हें सत्यधर्म का धारक मानना होगा; जबकि ऐसा कोई भी कदापि नहीं मान सकता।

अतः हमें गम्भीरता से इस बात को समझना चाहिए। धर्म एवं धर्म का फल आत्मा को प्राप्त होता है, जबकि वचन पौद्गलिक (भाषा वर्गणा) हैं तो क्या पुद्गल के आश्रय से आत्मा को धर्म की प्राप्ति हो सकती है। आत्मा व पुद्गल/वचन में तो अत्यन्ताभाव है अतः पुद्गल के कार्य से आत्मा को धर्म कैसे सम्भव है। तथा सत्य वचन बोलने का भाव/राग शुभभाव है, पुण्यास्रव का कारण है, जबकि सत्यधर्म संवर-निर्जरा का कारण है; अतः सत्यवचन बोलने का भाव/राग/परिणाम भी सत्यधर्म नहीं माना जा सकता।

अतः सिद्ध होता है कि संवर-निर्जरा का कारणभूत सत्यधर्म सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से ही प्रकट होता है। सत्यधर्म आत्मा की ही

वीतरागी परिणति का नाम है, जो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है।

अब विचारणीय यह है कि शास्त्रों/पूजनों में तो आचार्यों/विद्वानों ने सत्यवचन को सत्यधर्म के रूप में वर्णित किया है।

निश्चित ही किया है तथा वह कथन असत्य भी नहीं है, परन्तु उस कथन को आगमानुकूल समझने की आवश्यकता है, वह व्यावहारिक या व्यवहार नय का कथन है। व्यवहार नय द्वारा जो कथन किया जाता है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप वैसा नहीं होता, परन्तु सहकारी/निमित्त की मुख्यता से वह कथन किया जाता है।

दशलक्षण पूजन में या अन्यत्र जो भी कथन किये गये हैं, वह श्रावक/गृहस्थ की भूमिका में किस तरह धर्माराधन करते हुए शान्तिमय जीवन जिया जा सकता है। इसकी मुख्यता से कथन किये गये है, क्योंकि 'शान्ति से जीवन जीने की कला का नाम जैनधर्म है।'

व्यवहारीजनों को व्यवहार की भाषा में ही परमार्थवादी समझाते हैं अतः उक्त चर्चा भी वहाँ उचित है। आचार्य पद्मनंदि इस संबंध में संतुलित विवेचन करते हुए लिखते हैं -

स्वपरहितमेव मुनिर्भिमितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचनमथ, प्रविधेयं धी-धनैर्मौनम्।।

'उत्कृष्ट ज्ञान के धारक मुनिवर को प्रथम तो मौन ही रहना चाहिए अर्थात् परम सत्य आत्मस्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए, यदि विकल्प उठे तो ऐसे वचन बोलना चाहिए कि सदैव स्व-पर हितकारी हों अमृत समान मिष्ट व सत्य हों।'

सत्य वचन के सम्बन्ध में भी हम बहुधा यही सोचते हैं कि जैसा देखा, जैसा जाना वैसा कह दिया वही सत्य हो गया; परन्तु सत्य की वास्तविकता यह नहीं है। सत्य बोलने से पहले सत्य समझना आवश्यक है। कभी हम किसी से किसी की हत्या की बात सुनें व पुलिस को सूचित कर

दें, पर हो सकता हैं कि वह हत्या संबंधी किसी नाटक के दृश्य का संवाद बोल रहा हो, जिसे हमने मात्र सुने हुए के आधार पर सत्य मान लिया, इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में दूर सड़क पर पानी चमकता हुआ दिखता है या दूर पहाड़ पर सभी पेड़ एक दूसरे से मिले हुए दिखते हैं तो क्या इस दिखने को सत्य मानकर व्यवहार किया जा सकता है?

नहीं। अगर इसे सत्य मानकर व कहकर हम अपने आपको सत्यवादी माने व उत्तम सत्यधर्म का धारक माने तो हम धर्मात्मा तो नहीं मूर्ख जरूर सिद्ध हो जायेंगे। अतः सत्य बोलने से पहले सत्य समझना आवश्यक है। समझनें के बाद हम न बोलें तो भी हम तत् संबंधी सत्य के ज्ञाता तो हो ही जायेंगे।

पूजनकार द्यानतराय ने सत्य का विस्तार करते हुए लिखा है –

कठिन वचन मत बोल, पर निन्दा अरु झूठ तज।

अर्थात् कठोर, कर्कश, पीड़ादायक या परनिन्दाकारक वचन सत्य होते हुए भी असत्य वचनों की भाँति त्याज्य हैं।

बहुत से भाई कहा करते हैं हम तो सत्यवादी हैं; किसी को बुरा लगे तो लगे। मानो सत्य बोलने या कल्पित सत्यवादी बनने के नाम पर वह किसी को भी, कुछ भी कहने का अधिकार प्राप्त कर लिया हो। पर पूजन की उक्त पंक्ति में स्पष्ट है कि कठोर वचन व निन्दाकारक वचन भी मत बोलो।

इस संबंध में मनुस्मृति में भी लिखा है –

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमपि अप्रियम्।
नानृतं च प्रियं ब्रूयात्, एषः धर्म सनातनः।।

सत्य बोलो, प्रिय बोलो; किन्तु अप्रिय सत्य और प्रिय असत्य भी मत बोलो।

सत्य धर्म का तो यथार्थ स्वरूप समझना ही है, पर सत्य व असत्य

वचन का भी स्वरूप जिनवाणी के अनुसार समझना चाहिए।

जिनागम में असत्य के चार प्रकार बताये गये हैं –

1. सत् का अपलाप (जो है, फिर भी नहीं है कहना) 2. असत् का उद्भावन (जो है नहीं, उसे है कहना) 3. अन्यथा प्ररूपण (धर्म का स्वरूप अन्य रूप कहना। जैसे – हिंसा में या राग में धर्म कहना) 4. गर्हित वचन (निन्दनीय, कलहकारक, कष्टकारक वचन)

उक्त भेदों से स्पष्ट होता है कि निन्दाकारक, कलहकारक, कष्टकारक, किसी के अपमान करने के अभिप्राय से कहे गये वचन यदि कदाचित् सत्य भी हों तो भी वक्ता की भावना दूषित होने से वह वचन असत्य की श्रेणी में ही आते हैं।

आत्माश्रित निश्चय सत्यधर्म की तो महिमा आचार्यो ने प्रतिपादित की ही है, पर सत्य वचन को भी मनीषियों ने प्रशंसनीय/पूज्य माना है।

कहा भी है –

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप।।

प्रिय एवं आगमाश्रित सत्य बोलने के समान तप नहीं है एवं झूठ के समान अन्य पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में भगवान विराजमान रहते हैं।'

आचार्य कार्तिकेयस्वामी कहते हैं–

जिणवयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेणु वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो।।

जैन शास्त्रों में कहे हुए आचार को पालने में असमर्थ होते हुए भी जो जिनवचन का ही कथन करता है, उससे विपरीत कथन नहीं करता तथा जो व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता वह सत्यवादी है।''

पूजनकार कहते हैं–

'साँच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी।'

'सत्य तो एक रत्न है, जिसके पास यह रत्न है, वह जीव सदैव सुखी रहता है।'

आज हमें सर्वत्र असत्य का राज्य दिखाई दे रहा है और लोग सुखी दिखाई दे रहे हैं तो सत्वादी जग में सुखी की पंक्ति गले नहीं उतरती। गले नहीं उतरने का कारण है सत्य की सत्यता तक नहीं पहुँचना है।

एक बार दो मित्र बिना टिकट यात्रा कर रहे थे। एक ने सोचा कि आज ही पढ़ा है कि 'सत्वादी जग में सुखी' तो क्यों न इस बात को आजमा लिया जाये मैं तो टिकट निरीक्षक से कह दूँगा कि मैंने टिकट नहीं खरीदा।

दूसरे ने समझाया भइया नादानी मत कर। जैसे प्रतिदिन बिना टिकट आते हैं और पिछले दरवाजे से निकल जाते हैं; वैसे ही आज भी निकल जायेंगे। पर पहला व्यक्ति नहीं माना और निरीक्षक के पास जाकर बोला – मैंने आज टिकट नहीं खरीदा।

निरीक्षक बोला पैनल्टी सहित 100/ रुपये की रसीद बनवाओ, उसे रसीद बनवानी पड़ी। जब वह बाहर आया तो दूसरे मित्र ने कहा – कहो भाई! सत्य बोलना कैसा रहा?

वह बोला – भाई ! सत्य बोलना तो बहुत मँहगा पड़ा, 100 रुपये लग गये। अब ऐसा सत्य कभी नहीं बोलूँगा। मन्दिर की बात मन्दिर में ही ठीक है।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि क्या 100 रुपये सत्य बोलने की सजा थी? नहीं। 100 रुपये तो टिकट नहीं खरीदने के थे। पर उस व्यक्ति ने निष्कर्ष निकाला कि देखो टिकट न खरीदकर छुपकर जो भाग गया, उसे तो सजा नहीं मिली, पर मुझे 100 रुपये लग गये; परन्तु दूसरे मित्र ने टिकट

न खरीदकर जो आकुलता प्राप्त की, चोरी व झूठ के परिणाम से पाप बन्धन किया, छुपकर भागना पड़ा, वह सजा दिखाई नहीं देती।

सत्य बोलने का तो उसे पुरस्कार ही मिला है कि सीना तानकर द्वार से निकल सका, साथ ही शिक्षा भी मिली कि टिकट खरीदना चाहिए। अतः सत्य का सही स्वरूप समझें व प्रयोग करें तो सत्य द्वारा ही निराकुलता, शान्ति, आनन्द मिल सकता है; अतः यह सत्य ही है कि 'सत्वादी जग में सुखी।' असत्य तो और असत्य बोलने को बाध्य करता है तथा तनाव, शंका, बेचैनी, अशान्ति पैदा करता है।

अतः किसी कवि ने कहा है –

सत्य सृष्टि का सार, निर्बल का बल है।
सत्य–सत्य है, सत्य नित्य है, अटल–अमल है।
जीवन–सर में सरस सत्य का खिलता दिव्य कमल है,
क्षमा, नम्रता, ऋजुता, शुचिता का सत ही सम्बल है।

❑❑❑

प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यम्, वचने का दरिद्रता।।

प्रिय वाक्य बोलने से प्रत्येक प्राणी सन्तुष्ट होता है; अतः हमें उसी तरह को बोलना चाहिए। वचनों में कंजूसी क्या करना?

❊❊❊

विद्या विनयेन शोभते।

विद्या विनय से ही शोभायमान होती है।

संयम रतन सँभाल...

''आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक शुभाशुभ इच्छाओं को रोककर आत्मा में एकाग्र होना ही परमार्थ (निश्चय) से उत्तम संयम धर्म है।'' जब वीतराग न रह सके तब सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छोड़कर छह काय के जीवों की रक्षा का शुभराग होता है, उसे व्यवहार से संयम धर्म कहा जाता है।

'उत्तम संयम धर्म के धारक तो परम वीतरागी दिगम्बर सन्त ही होते हैं।' जिनका चित्त दया से भीगा हुआ है, जो समितियों (ईर्या, भाषा,ऐषणा, आदान-निक्षेपण, प्रतिष्ठापन) में प्रवर्तमान है तथा इन्द्रिय विषयों को त्यागते हैं; ऐसे मुनिराजों को संयमधर्म है-ऐसा महा मुनिराज कहते हैं।

''जिनको आत्मभानपूर्वक वीतरागभावरूप अकषायी करुणा प्रकटी है, उन्हें किसी प्राणी को दुःख देने का विकल्प ही नहीं होता , जिससे उनका चित्त दया से भीगा हुआ है - ऐसा कहा जाता है। रागभाव भी हिंसा है; क्योंकि उससे अपने आत्मा के चैतन्य प्राणों का घात होता है, इस राग (शुभ) में स्व जीव की दया नहीं है।

वीतरागभाव ही सच्ची दया है; क्योंकि उसमें स्व तथा पर किसी भी जीव की हिंसा का भाव नहीं है। ऐसी वीतरागी दया से जिसका चित्त भीगा हुआ है; उन मुनिराज को उत्तम संयम धर्म है। जब तक सम्पूर्ण वीतराग भाव नहीं होता और राग (शुभ) की वृत्ति उठती है; तब तक पाँच समिति में प्रवर्तनरूप शुभभाव होता है; उसे भी संयमधर्म कहा जाता है।

कहा भी है -

समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः।

'समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के लिए उसका परिपालन करने के लिए जो प्राणियों की दया और इन्द्रिय-विषयों का परिहार होता है वह संयम है।'

निश्चय संयम धर्म तो एक वीतराग भाव रूप है और व्यवहार संयमधर्म दो प्रकार का है - प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम।

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो।

छह काय (पाँच स्थावर व एक त्रसकाय) के जीवों (स्वजीव सहित) की रक्षा का भाव प्राणी संयम एवं पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) और मन के विषयों में से सुखबुद्धि तोड़कर, उनसे हटना अथवा निज आत्मा के आनंद में लीन होने पर इन्द्रियों का व्यापार रुकना, इन्द्रिय संयम कहलाता है।

पाँच इन्द्रियों के वशीभूत होकर उनके विषय ग्रहण से ही मैं सुखी हो सकता हूँ - ऐसी बुद्धि से ही छः काय के जीवों की हिंसा में जीव तत्पर हो जाता है अथवा उन विषयों के संग्रह एवं भोगने के भाव व क्रिया से जाने-अनजाने छह काय के जीवों की हिंसा होती है; यदि निजात्मा में सुखबुद्धि हो जाये, उसका रसास्वादन कर लेवे तो इन्द्रिय विषयों में सुखबुद्धि समाप्त हो जाये; तभी वास्तव में इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम धारण किया जा सकता है।

इन्द्रियों के माध्यम से अपने ज्ञान को बाहर फैलाने में तो स्वयं की हिंसा ही होती है अतः ज्ञानी जन तो स्वयं को स्वयं में सीमित/संयमित कर लेते हैं -

जहा कुम्भे सअगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मे हावी, अज्झप्पेण समाहरे।।

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है; वैसे ही मेधावी (ज्ञानी) पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

पंच इन्द्रियों के भोगों की लिप्सा में प्रत्येक प्राणी EAT, DRINK, AND MERRY खाओ-पिओ और मौज करो - के सिद्धान्त पर चल रहा है। जैन दर्शन/धर्म/कुल में जन्म लेने पर भी चार्वाक दर्शन (भोगवादी)

वाला हो रहा है; क्योंकि उनका सिद्धान्त है –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः भवेत्।।

जब तक जिओ, सुखपूर्वक इन्द्रिय भोग भोगते हुए जिओ। चाहे कर्ज भी क्यों न करना पड़े तो भी चिन्ता नहीं करो, ऋण लेकर भी घी पिओ (भोग सामग्री एकत्र करो); क्योंकि शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर पुनरागमन (फिर से जन्म) कहाँ से होगा?

पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जीव तो अनादि–अनन्त है, उसे अपने किये हुए परिणामों का फल भोगना ही होगा; इसलिए ज्ञानियों ने हमें सावधान किया है –

कुरंग–मातंग–पतंग–भृंग–मीना हताः पंचभिरेव पंच।
एक प्रमादी स कथं न हन्यात् यः सेवते पंचभिरेव पंच।।

अली मातंग मृग सलभ मीन विषय इक–इक में मरते हैं।
नतीजा क्या न पावैं, ये विषय पाँचों जो करते हैं।।

'हरिणी, हाथी, पतंगा, भ्रमर और मछली – ये पाँच प्राणी एक–एक इन्द्रिय के विषय में प्रमादी होकर मारे गये, तो फिर जो पाँचों इन्द्रियों के द्वारा पाँचों विषयों का सेवन करते हैं तो वह क्यों नहीं मारा जायेगा।' (दुर्गति में क्यों नहीं गमन करेगा?)

जिस प्रकार तटों (किनारों) से बँधी नदी स्वयं तो सागर में मिलकर विराट बनती ही है, साथ ही जन–जन की उपयोगी भी हो जाती है, उसी प्रकार संयम के बन्धन में बँधा मनुष्य का जीवन परोपकारी, पर–परितापहारी बनकर शान्ति के सागर को प्राप्त कर लेता है।' परन्तु आज का मानव इन्द्रियों का गुलाम होकर उनकी इच्छापूर्ति में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाकर नित्य ही पापार्जन कर रहा है। भक्ष्य–अभक्ष्य, हिंसा–अहिंसा, योग्य–अयोग्य का विचार किये बिना पशुवत् 24 घण्टे कुछ भी खाना–पीना हिंसक

शृंगार प्रसाधनों का उपयोग करना टी.वी. के माध्यम से पापों व विषयों का अहर्निश उपभोग करना जीव को कहाँ ले जायेगा?

सत्य ही कहा है–

'संयम रतन सँभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।'

विषयों के चोर इस संयम रूपी रतन को लूट रहे हैं और हमें होश नहीं है। इस संयमरूपी रतन की रक्षा सावधानी पूर्वक करना चाहिए।

आज मानव का मुँह 'लैटर बॉक्स' की तरह 24 घण्टे खुला रहता है, कोई भी/कभी भी/कुछ भी डालो, सब हजम। अरे भाई! लैटर बॉक्स से पोस्ट ऑफिस की तरह तो बनो कि 10 से 5 बजे तक खुलेगा एवं क्या–क्या वहाँ उपयोग किया जा सकता है; इसका कुछ तो नियम रहे। विशेषकर रसना एवं चक्षु इन्द्रिय के विषयों के पीछे जीव भागता रहता है, अनन्त आकुलता भोगता है एवं पापों का बन्धन करता है।

रसना इन्द्रिय के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है –

जिह्वे प्रमाणं जानीहि भोजने भाषणेऽपि च।
अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी।।

हे जिह्वे! तू भोजन और भाषण में प्रमाण को जान ले, क्योंकि अधिक भुक्ति (अधिक भोजन) और अति उक्ति (अधिक बोलना) शीघ्र ही प्राणों का हरण करने वाली अर्थात् दुःख देने वाली है।

जीभ एक ही है, वह भी बिना हड्डी की; काम दो हैं – चखना और बोलना, अतः इसका सँभालकर उपयोग करना चाहिए। अन्यथा –

जिह्वा ऐसी बावरी, कह गई सरग पाताल।
आप कह भीतर गई, जूती खावै कपाल।।

जिह्वा तो अनर्गल/कुछ भी बोलकर भीतर अर्थात् मुँह के अन्दर छुप जाती है, परन्तु उसके अनर्गल बोलने के फलस्वरूप सिर पर जूते पड़ते

हैं।' इसी तरह भोजन करने में भी अति आसक्त हो, अतिभोजी हो तो अस्वस्थ होगा, पाप का बन्धन करेगा व शीघ्रता से भोजन करने में जीभ भी कट जायेगी, अतः संयमित जीवन ही शान्तिकर है।

इस तरह जहाँ एक ओर निश्चय संयम मोक्षमार्ग स्वरूप है, संवर-निर्जरा का कारण है, धर्म है; वहीं व्यवहार संयम भी अहिंसा/सदाचार के पालन करने में आवश्यक है। गृहस्थ की भूमिका में रहते हुए भी हम प्राणी संयम का पालन करते हुए, बाह्य पर्यावरण प्रदूषण के निवारण में भी सहायक बन सकते हैं, क्योंकि जब हम स्थावर काय की हिंसा से बचेंगे तो निश्चित ही जल-ध्वनि-वायु प्रदूषण रोकने में भी सहभागी बनेंगे। न केवल बाह्य प्रदूषण, अपितु दोनों प्रकार का संयम, राग-द्वेषरूप अन्तरंग प्रदूषण को भी नष्ट करने में समर्थ हैं।

अतः सत्य ही कहा है -

संजमु विण णर भव सयलु सुणु, संजमुविण दुग्गई जिउवण्ण।
संजमु विण घडिय म इत्थ जाउ, संजण विण विहलिय अत्थि आउ।।

''संयम के बिना पूरा मनुष्य भव, शून्य के समान है, संयम के बिना यह जीव नियम से दुर्गति में जन्म लेता है, संयम के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ न जावे, संयम के बिना सम्पूर्ण आयु विफल है।''

❑❑❑

कटु विष-सम विषयों में मिलता तुम्हें कौन-सा स्वाद कहो।
जिसे खोजने हेतु निजामृत को करते अपवित्र अहो।।
कष्ट अहो! विपरीत राग को मधुर मानते हो धीमान्।
इन्द्रिय-मन के दास हुए हो, पित्त रोग युत मनुज समान।।
निर्धन जन धन बिना दुःखी, अरु तृष्णा से दुःखमय धनवान।
सभी भोगते कष्ट, मात्र मुनिराज भोगते सुख की खान।।
- आत्मानुशासन

तप चाहैं सुरराय...

'सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होने वाला उत्तम तप संसार-समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है।'

सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टि से वस्तु स्वरूप को जानकर निजात्मा में लीन होने से इच्छाओं का अभाव हो जाता है अर्थात् इच्छायें उत्पन्न ही नहीं होती हैं, इसे ही तप कहा गया है। इसी तप से कर्ममल का नाश होता है।

जैसा कि कहा गया है -

दानं दुर्गति नाशाय, शीलं सद्गतिकारणम्।
तपःकर्मविनाशाय, भावना भवनाशिनी।।

'दान से दुर्गति का नाश होता है, शील से सद्गति की प्राप्ति होती है। तप से कर्म का नाश होता है, भावना से संसार का नाश होता है।'

जिन शुभ या अशुभ भावों से कर्मों का बन्धन हो, वास्तव में वह तप नहीं है, परन्तु जिन भावों से ज्ञान-दर्शन की शुद्धि प्रकट हो और कर्मरूपी पर्वतों का नाश हो, वही तप है।'

यह तप आत्मा का वीतरागी चारित्र है। निश्चय से तो तप वीतराग भावरूप एक ही प्रकार का है। जब तक पूर्ण वीतराग भाव प्रकट न हो, तब तक शुभभावरूप व्यवहार तप होता है। वह अन्तरंग-बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है।

इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं। जो इस प्रकार हैं -

अन्तरंग तप - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

बहिरंग तप - अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश।

नियमसार, गाथा 55 तात्पर्यवृत्ति में निश्चय तप का स्वरूप बतलाते हुए पद्मप्रभमलधारीदेव लिखते हैं –

'सहज निश्चयनयात्मक परम स्वभावात्मक परमात्मनि प्रतपनं तपः।''

'सहज निश्चयनयात्मक परम स्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन, सो तप है।'

साथ ही गाथा 118 की टीका में भी कहा है –

''प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः।''

'प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन है, वह तप है।'

आचार्यों के उक्त वचनों से यह सिद्ध होता है कि निजात्मा में रमणता रूप उत्तम तप है, जो निजात्मा में रमण करता है/प्रतपन करता है, उसके इच्छानिरोधस्तपः स्वयमेव ही हो जाता है।

वीतरागता के साथ जो यत्किंचित् राग शेष होता है, उसके कारण व्यवहार तप भी मुनिराजों के जीवन में सहज ही होते हैं। यह तप समता भावपूर्वक विषय-भोगों की आकांक्षा के बिना वीतरागी नग्न दिगम्बर मुनिराजों के द्वारा धारण किये जाते हैं।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं –

इह पर लोय सुहाणं, णिरवेक्खो, जो करेदि समभावो।
विविहं काय किलेसं, तव धम्मो, णिम्मलो तस्स।।

'जो इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों की अपेक्षा न करके, शत्रु-मित्र, काँच-कंचन, महल-मसान, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा आदि में राग-द्वेष भाव किये बिना समभाव रखते हैं और निर्वांछित होकर अनशनादि बारह प्रकार का तपश्चरण करते हैं, उनके उत्तम तप होता है।'

तप को शोधक कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण पाषाण में

से शोधन करके शुद्ध स्वर्ण को प्रकट करता है। उसी प्रकार तपों द्वारा द्रव्य कर्म, भाव कर्म सभी मल का शोधन करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट किया जाता है। जब तक स्वर्ण मलिनता सहित है, तब तक वह सुन्दर नहीं है, आभूषण बनाने योग्य नहीं है, कीमती नहीं है; उसी प्रकार जब तक आत्मा कर्ममल सहित है, तब तक वह सुन्दरता एवं पूज्य दशा को प्राप्त नहीं कर पाता।

जब तपरूपी अग्नि में आत्मा प्रतपन करता है, तभी वह मलिनताओं का अभाव करके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है।

अनादिकाल से भवरोग और भ्रान्तिरोग लगा हुआ है। भेदविज्ञानी आत्मानुभूतिमय रसायनरूप उत्तम तप से इन रोगों का अभाव कर देता है। परमानन्द का कारण सम्यग्ज्ञान का तेज ही तप है। तप शोधक है, जो शुभाशुभ भावरूपी मलिनताओं का शोधन करके निजात्मा के वैभव को प्रकट करता है।

आचार्य पद्मनन्दिदेव उत्तम तप की महिमा बतलाते हुए लिखते हैं– 'यह विषय-कषायरूपी उद्धत चोरों का समूह दुर्जय है, तो भी तपरूपी योद्धा के पास उनका कोई जोर नहीं चलता। जो मुनिराज वीतरागभाव द्वारा स्वरूप में स्थिर होते हैं, उनके विषय-कषायरूपी चोरों का नाश सहज में ही हो जाता है।'

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नों को साथ लेकर मोक्षमार्ग में चलने वाले मुनिराजों के साथ यदि तपरूपी रक्षक न हों तो विषय-कषाय रूपी चोर उनकी लक्ष्मी लूट सकते हैं।'

तपश्चरण यदि विषयों की आशा, पद, मन्त्र, औषधि आदि की सिद्धि या अन्य लौकिक प्रयोजन, ख्याति, लाभ, सम्मान आदि की इच्छा से किया जाये, इसके लिए वनवास या नाना प्रकार के क्लेश सहन किये जायें तो वह कर्मनाशक न होकर कर्मबन्धक है, दुर्गति का कारण है। अतः

मोक्ष सुख का लक्ष्य लेकर, विषय-भोगों, पद, यश-प्रतिष्ठा आदि की इच्छाओं को छोड़कर अनन्त सम्पत्तिवान्, शाश्वत, ध्रुवात्मा में स्थिर होना ही वास्तविक तप है। यही मुक्ति/निर्बन्ध होने का कारण है।

अतः सत्य ही कहा है –

'तपसा निर्जरा च'

तप से निर्जरा होती है।

सम्यक्त्व की भूमिका में ज्ञानपूर्वक किया गया तप ही सार्थक होता है और ज्ञान वही सार्थक माना गया है, जो तप की आँच में पक गया हो।''

कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले तप की प्रेरणा देते हुए कविवर द्यानतरायजी कहते हैं –

धारा मनुज-तन महादुर्लभ, सुकुल आयु निरोगता।
श्री जैनवाणी तत्त्वज्ञानी, भयी विषय-पयोगता।
अति महादुर्लभ त्याग विषय-कषाय जै तप आदरै।
नरभव अनूपम कनक घर पर, मणिमयी कलसा धरै।।

❑❑❑

चाह गई चिन्ता गई, मनुवां बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए, वे नर शाहंशाह।।

✻✻✻

मैं उनको तपाऊँगा जिन्होंने मुझे तपाया है।
मैं उनको रुलाऊँगा, जिन्होंने मुझे रुलाया है।।
वीर महावीर का बेटा हूँ, किसी कायर का नहीं।
मैं उन कर्मों का भगाऊँगा, जिन्हें वीर ने भगाया है।।

उत्तम त्याग करै जो कोई...

उत्तम त्याग धर्म की जब भी चर्चा की जाती है, दान की मुख्यता से ही चर्चा की जाती है, दान को ही त्याग समझा/समझाया जाता है, अतः त्याग के सम्यक् स्वरूप को समझना आवश्यक है। यह एक तथ्य है कि ग्रहण पूर्वक ही सच्चा त्याग होता है। अतः निज शुद्धात्मा के ग्रहण पूर्वक परद्रव्यों में ममत्व-एकत्व रूप मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों का छूटना ही वास्तविक (निश्चय) त्याग है।

निजात्मा के ग्रहणपूर्वक ही परद्रव्य-परभाव का त्याग हो सकता है। जब तक हम निज शुद्धात्मा को न जाने, न पहचाने, तब तक शरीरादि का अपनत्व ममत्व छूट नहीं सकता, अतः सच्चा (उत्तम) भी नहीं हो सकता। बाह्य संयोगों का छोड़ना मात्र त्याग नहीं है, यह तो प्रसंगवश छूटते ही रहते हैं; उन पदार्थों में जो आसक्ति-प्रीति भाव है, वह छूटने का नाम ही उत्तम त्याग है।

जैसा कि कहा भी है –

'निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्यान्तर परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः।'

निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति होना ही त्याग है।'

''सम्यक् प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि आदि को पुस्तक (शास्त्र) स्थान तथा पीछी-कमण्डलादि संयम के साधन देने को धर्मात्माओं का उत्तम त्याग (व्यवहार) कहा गया है।' मैं शुद्धात्मा हूँ, मेरा अन्य कुछ भी नहीं है। ऐसे सम्यग्ज्ञानपूर्वक शरीर में भी ममता का त्याग करके शुद्धस्वरूप में रमणता प्रकट करे, तब मुनिराजों को सर्व परभावों का त्याग हो जाता है।''

''शास्त्र का प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व शास्त्रों के सारभूत शुद्धात्मा

को पहचानकर वीतरागभाव प्रकट करना ही परमार्थ से श्रुत का व्याख्यान है और वही उत्तम त्याग है।

त्याग दो प्रकार का कहा गया है – निश्चय और व्यवहार।

मोह-राग-द्वेष के छोड़ने को निश्चय त्याग एवं औषधि, शास्त्र, अभय और आहार आदि सुपात्रों को देना वह व्यवहार त्याग या दान है।

त्याग और दान का कहीं-कहीं एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है; पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि जब परोपकार के अर्थ किसी वस्तु के देने/त्यागने की बात की जा रही है, तब वह दान ही है, एवं राग-द्वेष आदि दुःखकारक वस्तुओं को छोड़ने की बात की जाये तो उस प्रसंग में उत्तम त्याग समझना चाहिए।

अधिकांशतः हम त्याग और दान को एक ही समझते हैं, पर वस्तुतः दोनों में बहुत अन्तर है, उत्तम त्याग आत्मा की शुद्ध परिणति है/धर्म है/मोक्ष का कारण है/स्वाश्रित है; परन्तु दान शुभ परिणति है/पुण्य है/पुण्यबंध का कारण है/पराश्रित है। त्याग अपवित्र/दुःखदायक वस्तुओं का किया जाता है; जबकि दान उत्तम/उपयोगी वस्तुओं का किया जाता है।

ज्ञानी मुनिराज निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक मोह-राग-द्वेष आदि भावों का त्याग करते हैं, उन्हें ही वास्तव में त्याग धर्म होता है। ज्ञानी श्रावक भी भूमिकानुसार त्यागी होते हैं, साथ ही शुभभावों के सद्भाव में दानादि भी करते हैं।

‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।’

स्व-पर के उपकार की भावना से अपने धनादि का त्याग करना, छोड़ना दान है।’’

जिनागम में दान-औषधि, ज्ञान, अभय, आहार चार प्रकार का कहा गया है; साथ ही सत्पात्रों (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) को देने का भी निर्देश है।

इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ भी वस्तु किसी को भी देने का नाम जिनवाणी के अनुसार दान नहीं है, भले ही उसे लोक में दान कहा जाता हो। शुद्ध औषधि, शुद्ध ज्ञान (जिनवाणी, वीतरागता पोषक ज्ञान) जीवों पर करुणाभाव और शुद्ध आहार योग्य पात्रों को देना ही दान कहा गया है, जो कि दाता को उत्तम फल का देने वाला कहा गया है।

क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।।

जिस प्रकार समय पर पृथ्वी में बोया हुआ वट का छोटा बीज बहुत भारी छाया के विभव एवं इष्ट फल को देता है, उसी प्रकार समय पर पात्र को दिया गया थोड़ा-सा दान भारी कान्ति के विभव व इष्ट फल देने वाला होता है।

जो अपने पास साधन होते हुए भी योग्य अवसर पर, योग्य पात्रों को, योग्य कार्यों अर्थात् जिनमन्दिर निर्माण, स्वाध्याय भवन निर्माण, जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु दान नहीं करता उसे तो कौए से भी गया-बीता कहा गया है, क्योंकि कौआ भी खुरचन के मिल जाने पर काँव-काँव करके अन्य कौओं को बुलाता है।

जो मनुष्य होकर भी पुण्योदय से प्राप्त सामग्री को पुण्य कार्यों में नहीं लगाता, अपितु मात्र भोगों में ही खर्च करता है, वह तो पाप ही अर्जन करता है अथवा जो किसी कार्य में भी खर्च नहीं करता, मात्र धन संचय करता है।

ऐसे व्यक्ति तो नीतिकारों ने व्यंग्य करते हुए बड़ा दानी कहा है –

कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि, यः परेभ्यः प्रयच्छति।।

‘कृपण के समान दाता न हुआ है और न होगा, जो धन को छुए बिना ही दूसरों के लिए दे देता है।’

कुछ अज्ञानी जब नाम, मान प्राप्ति हेतु दानादि करते हैं; उन्हें समझाते हुए नीतिकारों ने कहा है –

मान बढ़ाई कारणे, जो धन खरचे मूढ़।
मर कर हाथी होयेंगे, धरती लटके सूंढ़।।

हे भाई! तुम अपनी नाक बड़ी करने के लिए दान दे रहे हो तो यहाँ पर तो नाक छोटी रहेगी; पर इस भावना से मरकर हाथी की पर्याय में जाओगे, जहाँ लम्बी नाक होगी। भाव यह है कि दान धर्म प्रभावना की भावना से देना चाहिए, नाम या मान की भावना से नहीं। जो निर्मान भावना से दान करते हैं, उन्हें विशेष पुण्य बंध होता है व नाम भी होता ही है।

जहाँ आवश्यकता नहीं है, वहाँ पर धनादि देना बुध-जन योग्य नहीं कहते हैं। वास्तविकता यही है कि आप जिन मन्दिरों, संस्थाओं को आवश्यकता नहीं है, वहाँ लोग मान-प्रतिष्ठा हेतु लाखों रुपये दान दे रहे हैं, वहीं जिन व्यक्तियों, तीर्थों, मन्दिरों, संस्थाओं को आवश्यकता है; वहाँ अपरिचय के कारण, नाम न होने के कारण कोई दान नहीं करता।

इसी वृत्ति को ध्यान में रखते हुए सूक्तिकार कहते हैं –

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथादानं धनाढ्येषु वृथा दीपो दिवापि च।।

''समुद्र में वर्षा का होना, खाये हुए को खिलाना, धनी को दान देना और सूर्य को दीपक दिखाना व्यर्थ है।''

निष्कर्ष यही है कि निजात्मा को जान-पहचानकर उसी में लीन होना एवं शरीर-मोह-राग-द्वेष आदि पररूप एवं परभावों में से अपनत्व, टूटना ही उत्तम त्याग है। ऐसा उत्तम त्याग मुख्यतः मुनिराजों के होता है।

जो उक्त स्थिति में न हो वह त्याग के शास्त्रोक्त स्वरूप को समझते हुए, पुण्योदय से प्राप्त सामग्रियों को स्व-परोपकार की भावना से निरभिमानता पूर्वक आवश्यकतानुसार उदार दिल से सत्पात्रों को जिनवाणी के प्रचार-

प्रसार में धर्मप्रभावना में, साधर्मियों के लौकिक जीवन निर्वाह में अपनी आवश्यकतानुसार बिना किसी अपेक्षा के खर्च करना वह दान है, जिसे व्यवहार से त्याग भी कहा जाता है – ऐसा त्याग या दान मुख्यतः गृहस्थ श्रावक द्वारा किया जाता है।

जैसा कि पूजनकार लिखते हैं –

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा,
औषध शास्त्र अभय आहारा।
निहचैं राग-द्वेष निरवारे,
ज्ञाता दोनों दान सम्हारैं।।

और जो ज्ञाता जीव उक्त दोनों त्याग (त्याग और दान) का भूमिकानुसार ग्रहण करता है, वह –

उत्तम त्याग करै जो कोई, भोगभूमि सुर शिवसुख होई।

❑❑❑

क्रोध स्वर्ग को नरक बना देता है।
क्रोध जीवन की खुशी में आग लगा देता है।।
इतिहास साक्षी है, इस बात का मेरे दोस्तो,
क्रोध इन्सान को शैतान बना देता है।।

***

जो चित्त को चलायमान कर दे, उसे चलचित्र कहते हैं,
जो सीने में विकार भर दे, उसे सिनेमा कहते हैं।
जो दृष्टि को दर्शन से दूर कर दे, उसे दूरदर्शन कहते हैं,
जो आदमी को सियार बना दे, उसे वी.सी.आर. कहते हैं।।

परिग्रह चिन्ता दुःख ही मानो...

अब हम उत्तम आकिंचन्य धर्म के बारे में विचार करेंगे। निज आत्मा के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों को अपना मानना ही परिग्रह है एवं ज्ञानानंदस्वभावी निज आत्मा के अतिरिक्त इस विश्व में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है – ऐसी मान्यता का नाम ही आकिंचन्य धर्म है।

जैसा कि आचार्यदेव ने कहा है – **मूर्च्छा परिग्रहः।** अर्थात् मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं । मूर्च्छा ममत्व को अर्थात् यह मेरा है – ऐसे भाव को कहते हैं।

जब हम अपने आपको नहीं जानते अपनी शक्तियों को नहीं स्वीकार करते हैं तो फिर सुख की अभिलाषा में पर-पदार्थों को अपना मानकर ग्रहण करते हैं। पर पदार्थ तो अपने कभी होते ही नहीं; क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वचतुष्टय से बाहर जाते नहीं, जा सकते नहीं फिर भी अज्ञानी जीव परपदार्थों को अपना मानकर सुखी-दुःखी होता रहता है।

परिग्रह को ग्रन्थ अर्थात् गाँठ भी कहते हैं। धागे में गाँठ हो तो सुई में नहीं पिरोई जा सकती, कैंसर की गाँठ हो तो शरीर को सड़ा देती है/परेशान कर देती है; उसी प्रकार परिग्रह रूपी गाँठ जीव को शान्ति से नहीं रहने देती।

अज्ञानी जीव परिग्रह हो तो भी दुःखी होता है, न हो तो भी दुःखी होता है। कहा भी है –

....परिग्रह चिन्ता दुःख ही मानो।
फाँस तनक सी तन में साले, चाह लँगोटी की दुःख भाले।

थोड़ा भी परिग्रह हो अर्थात् थोड़े से भी पर-पदार्थों से ममत्व हो, वह भी दुःखद ही होता है। तब फिर अधिक धन/धान्य/परिजनों की कल्पनामात्र भी दुःखद/आकुलताजन्य ही है। फिर भी इस अज्ञानी जीव को

अपने जीवन से भी अधिक धन ही लगता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहते हैं –

आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात् सुतरां धनम्।।

समय के बीतने पर दो कार्य होते हैं – एक तो धन की वृद्धि होती है और मनुष्य की आयु कम होती है; परन्तु अज्ञानी को धन की वृद्धि तो दिखाई देती है, उसके बढ़ने पर प्रसन्न होता है; परन्तु उसी समय अमूल्य मनुष्य जीवन की आयु बीत गई है, यह दिखाई नहीं देता। उसके बारे में आयु समाप्त होने तक भी नहीं सोच पाता; इससे ज्ञात होता है कि इसे जीवन से भी अधिक धन प्यारा है।

परिग्रह चौबीस प्रकार के कहे गये हैं –

चौदह अन्तरंग परिग्रह – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

दस बहिरंग परिग्रह – क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), सोना, चाँदी, धन, धान्य (अनाज), दास, दासी, वस्त्र, बर्तन।

अज्ञानी जीव अंतरंग परिग्रह को तो समझता ही नहीं है। बहिरंग परिग्रह को पूरी तरह न समझ कर मात्र धन को ही परिग्रह मानकर उसके जोड़ने/छोड़ने में लगा रहता है। वास्तव में तो रुपया/पैसा तो बहिरंग परिग्रह/साधनों के विनिमय मात्र का साधन है। हम रुपयों को ही अपने सुख के साधन के रूप में मानकर न्याय/अन्याय पूर्वक जैसे भी बने एकत्र करना चाहते हैं। इस परिग्रह को जोड़ने के लिए सभी प्रकार की कषायें व पाप करने से भी नहीं चूकते हैं।

सूक्तिकार अन्याय पूर्वक कमाने का निषेध करते हुए समझाते हैं –

अन्यायोपार्जितं वित्तं, दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते तु एकादशे वर्षे, सर्वधनं विनश्यति।।

अन्याय से कमाया हुआ धन दस वर्ष तक ही रुकता है, ग्यारहवाँ वर्ष आने पर समूल नष्ट हो जाता है ।

अतः हमें मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए धन कमाना भी हो तो अन्याय पूर्वक कमाने का भाव नहीं करना चाहिए; क्योंकि धन/संयोगों की प्राप्ति होती तो है पूर्व पुण्योदय से और उसे अन्याय पूर्वक प्राप्त करने के भाव से तो पाप का ही बंधन होता है, धन की प्राप्ति नहीं।

आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में कहते हैं –

नदियों में बाढ़ शुद्ध जल से नहीं आती, गंदे जल से ही आती है; उसी तरह सज्जनों को भी अधिक धन न्यायपूर्वक नहीं अपितु अन्याय पूर्वक ही प्राप्त होता है ।

इसीलिए बहुत अधिक परिग्रह तो दुःखद व त्याज्य ही कहा है, मुनिराज तो चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित होते ही हैं, परन्तु हमें भी यथाशक्ति अंतरंग परिग्रह छोड़कर, बहिरंग परिग्रह भी कम करना चाहिए। जब तक सर्वप्रकार से परिग्रह का त्याग न हो सके, तब तक हमें उस धनादि सामग्री का उपयोग धर्मप्रचार व परोपकार में करना चाहिए।

कविवर द्यानतरायजी कहते हैं –

बहुधन बुरा हू, भला कहिये लीन पर उपकार सौं।

अधिक धन/सामग्री तो बुरी ही है, परन्तु यदि वह परोपकार में लगा दी जावे तो उसे भला कहा जाता है।

वस्तुतः बाह्य सामग्री दुःखद नहीं है, अपितु उसके प्रति आसक्ति का भाव दुःखद है; अतः वह भाव ही परिग्रह है। **जिस तरह नाव पानी में रहे तो कोई बात नहीं, परन्तु नाव में पानी नहीं आना चाहिए।** इसी प्रकार हम परिग्रह के बीच में हों तो कोई बात नहीं; पर परिग्रह हमारे में आ जावे अर्थात् उसे हम अपना मानने लगें, उसके प्रति आसक्ति का भाव रखें तो वही दुःखद है।

शराब देखने से नशा नहीं चढ़ता, बल्कि उसे ग्रहण करने से नशा चढ़ता है; उसी प्रकार पर को जानने से पाप नहीं लगता; बल्कि पर को अपना मानने, उसे अच्छा-बुरा मानने से पाप लगता है। अतः हमें कभी भी अन्य किसी से राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

यदि हम पुण्योदय वाले से ईर्ष्या करते हैं तो पुण्य हमसे नाराज हो जाता है कि मैं जब आपको पसन्द नहीं हूँ, आप मुझे किसी अन्य के पास नहीं देख सकते तो हम आपके पास भी नहीं आयेंगे। और जब हम पापोदय वाले की मजाक करते हैं, उससे द्वेष करते हैं तो पाप नाराज हो जाता है; अच्छा मैं जहाँ दिखता हूँ, उनकी आप मजाक बनाते हैं, अब मैं आपको भी नहीं छोडूँगा। अतः हमें पुण्य-पाप में राग-द्वेष, हर्ष-विषाद न करके समता भाव धारण करना चाहिए।

हमें विचारना चाहिए –

कदाऽहं भविष्यामि, सदानन्दो चिदम्बरः।
कदाऽहं भविष्यामि, पाणिपात्री दिगम्बरः।।

मैं कब आनन्दमयी चैतन्य अम्बर को धारण करूँगा? मैं कब पाणिपात्री (नग्न दिगम्बर मुनि) बनूँगा।

इस तरह परिग्रह के मध्य रहते हुए भी –

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय, नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य, किंचित् मात्र भी मेरे नहीं।।

के चिंतन/मान्यता के साथ हमें बाह्य में भी अपरिग्रही होने का संकल्प/भावना भानी चाहिए। जब तक पूर्ण अपरिग्रही न हो सकें, तब तक पूर्ण अपरिग्रही होने की भावना भाते हुए अनावश्यक परिग्रह से बचना चाहिए एवं प्राप्त सामग्री का परोपकार में उपयोग करना चाहिए।

❑❑❑

ब्रह्मभाव अन्तर लखो...

ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा के अतिरिक्त परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मुझे सुख-दुःख देने वाला नहीं है – ऐसी मान्यता का नाम आकिंचन्य धर्म है तो परमाणु मात्र से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी, अनादि-अनंत चैतन्य परमात्मा में लीन होना ही उत्तम ब्रह्मचर्य है। एक नास्ति परक है तो दूसरा अस्तिपरक।

कविवर द्यानतरायजी ने इसीलिये कहा है –

आकिंचन ब्रह्मचर्य धर्म दस सार हैं।

***

ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचर्यः।

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चरना, विचरण करना, लीन होना ही उत्तम ब्रह्मचर्य है; जो चारों गतियों से निकालकर मुक्ति दातार है।

पाँचों प्रकार की इन्द्रियों मन के विषयों से विरक्ति एवं निज आत्मा में अनुरक्ति ही ब्रह्मचर्य है। यदि हम मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से विरक्त हुए हों, उस संबंधी कुछ राग कम हुआ हो तो जगत में उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं, सदाचारी जीवन होने से प्रशंसनीय भी है, परन्तु यह शुभराग रूप होने से पुण्यबंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं। जबकि उत्तम ब्रह्मचर्य मुनिराजों को प्रकट होने वाला मुक्ति के कारणरूप धर्म है।

ब्रह्मचर्य की चर्चा में स्पर्शन इन्द्रिय की मुख्यता से ही कथन किया जाता है, परन्तु स्पर्शन इन्द्रिय में ही समस्त इन्द्रियाँ भी समाहित हो जाती हैं, अतः पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति हो तभी व्यवहार ब्रह्मचर्य कहलायेगा। यदि स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से तो विरक्त हो एवं अन्य इन्द्रियों के विषय में अनुरक्त हो, तब वास्तविक व्यवहार ब्रह्मचर्य भी नहीं होता है।

कविवर द्यानतरायजी लिखते हैं –

शील बाढ़ नौ राख, ब्रह्म भाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा।।

शील की नौ बाढ़ों (1. स्त्रियों के संसर्ग में नहीं रहना। 2. स्त्रियों के शृंगार व रूप को नहीं देखना। 3. स्त्रियों के साथ बातचीत नहीं करना। 4. पूर्व के काम सेवन को स्मरण नहीं करना। 5. कामोद्दीपक पदार्थों का सेवन नहीं करना। 6. स्त्रियों के शृंगार को निरूपण करनेवाले शास्त्रों/कथाओं को न पढना, न सुनना। 7. स्त्रियों की चारपाई पर न सोना, न उनके आसन पर बैठना। 8. काम सेवन की कथा न करना, न सुनना। 9. पेट भर भोजन-पान न करना ।) का ध्यान रखते हुए व्यवहार ब्रह्मचर्य एवं अंतरंग में ब्रह्मभाव को देखना स्वयं को ज्ञानानन्दमयी आत्मा के रूप में अनुभव करना निश्चय ब्रह्मचर्य। मुनिराज दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य के धारक होते हैं। श्रावक भी यथायोग्य दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करता है एवं अपूर्णता की स्थिति में पूर्णता की भावना भाता है।

अन्य सामान्य श्रावकों को भी व्यवहार-निश्चय ब्रह्मचर्य को धारण करने की भावना के साथ सदाचार रूप से यथासंभव उस व्यवहार से बचना चाहिए, जिससे कि शील का नाश होता है। इसके लिए हमें शील की नौ बाढ़ों को समझकर उनका पालन करना चाहिए। जिस तरह सीताजी ने लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन करके महा संकट को प्राप्त किया; उसी प्रकार उक्त बाढ़ों का अर्थात् शील के सुरक्षा चक्रों का ध्यान न रखने/पालन न करने से ही व्रतधारियों के व्रतों में अतीचार ही नहीं अनाचार लग रहे हैं, व्रत भी खण्डित हो रहे हैं।

हमें भी परिवार में बालक/बालिकाओं के लिए यथासंभव/यथाशक्ति शील सुरक्षा संबंधी जानकारी देकर उनका पालन कराना चाहिए। अन्यथा वह कब दोषपूर्ण आचरण की ओर बढ़ जावें या उन्हें दुराचार की ओर खींच लिया जावे, कहा नहीं जा सकता। आज सर्वत्र वातावरण दूषित हो रहा है। हमने, स्वयं ने हजारों रुपये के टेलीविजन, मोबाइल व अन्य सामग्री घर में लाकर रखी हुई हैं, जिनके माध्यम से शील/चरित्रनाशक सामग्री घर-घर व घट-घट में पहुँच रही है; जिसके कारण ही प्रतिदिन के समाचार पत्र

व्यभिचार/बलात्कार/घर से भागने/विजातीय/विधर्मी संबंध होने के समाचारों से भरे पड़े हुए हैं; अतः हमें निश्चय धर्म को समझते/समझाते हुए व्यवहार को भी समझना/समझाना/पालन करना/कराना चाहिए।

1. हमें बालक/बालिकाओं को सिखाना चाहिए कि वह विपरीत लिंगी किसी से भी एकान्त में न मिलें।

2. मित्रता की मर्यादा बनाये रखें। 3. विपरीत लिंगी से हाथ मिलाना, गले लगना जैसी क्रियाओं से बचें। 4. विपरीत लिंगी से पति-पत्नी, शादी-ब्याह संबंधी चर्चायें, मजाक, चुटकुलेबाजी न करें। 5. जिन कपड़ों के पहनने से अंग प्रदर्शन होता हो ऐसे कपड़े न पहनें। 6. लड़के-लड़कियाँ किसी भी प्रसंग में (भले ही रिश्ते में कोई भी हों) साथ में नृत्य न करें। 7. लड़कियाँ मंचों पर फूहड़ फिल्मी गानों पर नृत्य न करें।

इस तरह यदि हम कुछ बातों का ध्यान रखते हैं, अपने बालक/बालिकाओं को आचरण संबंधी विवेक व सावधानी सिखाते हैं तो वर्तमान जीवन ही सुरक्षित नहीं रहेगा; भविष्य में भी व्यवहार-निश्चय की संधिपूर्वक उत्तम ब्रह्मचर्य को धारण कर सकेंगे। तभी कविवर की यह पंक्ति सार्थक होगी –

'द्यानत' धरम दश पैडि चढ़िकैं, शिवमहल में पगधरा।

इसीलिये तो हैं, विलक्षण दशलक्षण।

❑❑❑

अज्ञानी दृष्टि विष कहते, सर्पों को यह किन्तु असत्य।
जो निज नेत्र कटाक्ष मात्र से करें सर्वथा जग संतप्त।।
उन्हें छोड़ विपरीत हुआ तू, अतः क्रुद्ध हो वे भ्रमतीं।
उनका विषय नहीं बनना, केवल विषरूप समझ स्त्री।।
-आत्मानुशासन

उत्तमक्षमा धरै जो कोई, अन्तर बाहर शत्रु न कोई...

दशलक्षण पर्व के एक दिन बाद ही क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है। दशलक्षण पर्व का प्रथम दिवस भी उत्तम क्षमा का और पर्व के बाद भी उत्तम क्षमा मानो हमें संदेश देता है कि वर्ष के 355 दिन में किये गये अपराधों के प्रति पर्व के प्रथम दिन ही क्षमा याचना कर व दूसरों को क्षमा करके आत्महित के लक्ष्यपूर्वक शांति से दशलक्षण पर्व मनाओ और यदि दस दिन साथ में रहने, बोलने, पूजन/स्वाध्याय करने में कषायवश कुछ कहने-सुनने में आ गया हो तो क्षमावाणी पर्व के दिन भूल-चूक लेनी-देनी की तरह क्षमायाचना करके जीवन को शांतिपूर्वक रहने लायक बना लो, अन्यथा कषाय की आग लेकर साल भर किस तरह समाज में रह पाओगे।

क्षमा आत्मा का धर्म है, वाणी का नहीं। जिनके हृदय में क्षमाभाव होता है, उनकी वाणी से भी क्षमा करने व क्षमा माँगने के वचन निकलते हैं; अतः क्षमा भाव सहित होने वाले वाणी के पर्व को क्षमावाणी पर्व के रूप में मनाया जाने लगा, परन्तु विडम्बना यह हुई कि हमने क्षमाभाव तो धारण नहीं किया, मात्र वाणी के माध्यम से मित्रों के समक्ष क्षमा माँगने/करने की औपचारिक वाणी द्वारा परम पवित्र उद्देश्य से आयोजित होनेवाले पर्व को मना लिया, जिससे पर्व तो धूमधाम से मनाया जाने लगा; परन्तु उसका जो लाभ हमें होना चाहिए था अर्थात् विद्वेष की समाप्ति, शान्ति, सौहार्द, समता की प्राप्ति वह नहीं हो सकी। इस तरह मानो धन भी गया व धर्म भी गया।

हमें यह भलीभाँति समझना चाहिए कि यह पर्व मात्र रंगारंग कार्यक्रम करने हेतु नहीं, अपितु राग-रंग से भिन्न निज भगवान आत्मा को जानने व अपनी ही तरह प्रत्येक आत्मा को अनंत शक्ति सम्पन्न देखने/मानने का पर्व है। जब तक निज-पर के आत्मा को अनादि-अनंत, अनंत शक्ति सम्पन्न, प्राप्त पर्याय (मनुष्य/तिर्यंच/स्त्री/पुरुष) संयोगों (गरीब/अमीर) संयोगी भावों (राग/द्वेष/क्रोध आदि) से पृथक् चैतन्य स्वरूपी भगवान आत्मा के

रूप में नहीं देखेंगे, मात्र संयोगों व संयोगी भावों रूप ही देखेंगे तो कभी भी क्रोध का अभाव नहीं हो सकता और न ही क्षमापर्व मनाया जा सकता है। आवश्यकता सत्य समझने की है।

दशलक्षण पर्व के बाद क्षमापर्व ही क्यों मनाते होंगे, मार्दव या आर्जव पर्व क्यों नहीं? क्षमा वही जीव कर सकता है, जिसके क्रोध की मंदता होगी तथा क्षमा माँग वही सकता है, जिसके मान की मंदता होगी। मान की अधिकता वाला जीव कुछ भी हो जाये, पर दूसरों के समक्ष क्षमा याचना नहीं कर सकता। इस तरह क्षमा भाव को वाणी से प्रकट करने पर क्रोध व मान का अभाव दिखाई देता है और जिसके क्रोध व मान कम हो वही समाज/परिवार में शान्ति से रह सकता है, मंदिर में आकर सभी के साथ बैठ कर पूजन स्वाध्याय कर सकता है धर्म समझ सकता है।

हम अनादि से अपराध करते आ रहे हैं, परन्तु कभी हम अपने दोषों/अपराधों को स्वीकार नहीं करते, क्षमा माँगना बहुत दूर हुआ। यह समय हमें अपने दोषों का प्रक्षालन करने, अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए निरपराध दशा प्रकट करने का मांगलिक अवसर है। यदि अवसर बीता तो भव-भव पछतायेगा।

फिर काल अनंत अरे दुःख का घन छायेगा।
यह नरभव कठिन महा किस गति में जायेगा।
यदि नरभव पाया तो जिनश्रुत नहीं पायेगा।
अनगिनती जन्मों में अनगिनती कल्पों में।।

अतः हमें अपने दोषों को स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए, जिससे कि हम भविष्यत्कालीन अनंत दुःखों से बच सकें। हमें यह तो विचार आता है कि हमने क्या पाप किये, हम तो कभी गलत काम करते ही नहीं हैं, मैं तो सदा सत्य बोलता हूँ, मेहनत करता हूँ, ईमानदारी से जीता हूँ आदि। पर भाई हम कभी यह विचार नहीं करते कि मैंने अभी ही नहीं, जिस-जिस पर्याय में गया, वहाँ जाकर अपराध ही किया है, उनके प्रति क्षमा

भाव धारण करके अपने जीवन को पवित्र बनायें।

मैं जब मनुष्य पर्याय में गया तो मान कषाय के जोर में कभी किसी को कुछ नहीं समझा, पुरुष हुआ तो पिता के रूप में रहकर संतान को अधर्ममार्ग में लगाकर परिवार, परिग्रह, पद की दौड़ में ही दौड़ा-दौड़ा कर उनका मनुष्य जीवन नष्ट किया, पति रूप में रहकर धर्मपत्नी तो कहा, पर उसे धर्म के मार्ग पर चलने नहीं दिया, जब कभी धर्मपत्नी ने धर्मचर्चा हेतु प्रेरित किया तो उससे विसंवाद करके ही पतिधर्म का निर्वहन किया, पुत्र के रूप में मैंने माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य नहीं की, उनके द्वारा बताये गये हितमार्ग पर नहीं चला, जिससे उनके दुःख में ही निमित्त बना हे प्रभो! मेरे अपराध क्षमा हों।

मैंने अधिकारी बनकर सदा अधीनस्थ कर्मचारियों को परेशान किया, अपने स्वार्थ के पीछे देश/समाज/संस्था का अहित किया; कर्मचारी बना तो कभी अधिकारी के आदेशों की पालना नहीं की, वकील बना तो अपराधियों को निरपराध सिद्ध करने में बुद्धि चली, डॉक्टर हुआ तो सेवा धर्म न स्वीकार कर नकली दवाइयाँ, जिनमें कमीशन मिले ऐसी अनावश्यक दवाइयाँ दे-देकर धन कमाया; पर मैं अपराध कर रहा हूँ - यह समझ ही नहीं आया; इंजीनियर बना तो रिश्वत लेकर अयोग्य कार्य करवाये, जिससे देश व समाज का अहित किया, उपदेशक बना तो मात्र अहंकार बढ़ाने, विसंवाद कराने, झूठी निन्दा-प्रशंसा करने, जनरंजन-मनरंजन करने में ही अपनी सफलता समझी; पर आज आपके दिव्य ज्ञान को पाकर लग रहा है कि मैंने मिथ्या धर्म का प्रचार करके कितना भयंकर अपराध किया है; हे प्रभो! मेरे अपराध क्षमा हों।

हे प्रभो! जब मैं स्त्री रूप में हुआ तो माँ होकर अपनी संतान को जिनवाणी माँ का परिचय नहीं कराया, जिससे में वास्तव में संतानों की हितकारी माँ नहीं बना; धर्मपत्नी रूप में रहकर मैंने - धर्म से पतित करे वह धर्मपत्नी - इस हास्य उक्ति को ही चरितार्थ किया; सास के रूप में बहू पर

अनेक अत्याचार किये, कभी अपने समान नहीं समझा, धर्ममार्ग पर लगने पर उसे अपने अधिकारों को दिखाकर उस से वंचित किया। बहू रूप में मैंने कभी जो मुझे बहुत अरमानों से लेकर आये थे, जिन्होंने अपना प्राणों से प्यारा पुत्र मुझे पति के रूप में दिया था ऐसे सास-ससुर की सेवा नहीं की, उनमें कभी मैंने माता-पिता का रूप नहीं देखा और उनसे उनके हृदयांश रूप उनका पुत्र जो उन्होंने मुझे पति रूप में दिया मैंने उनके ही पुत्र को उनसे जुदा कर उन्हें अनाथों की भाँति रहने को मजबूर कर दिया; हे प्रभो! अज्ञानता मैं मेरे द्वारा किये गये यह अपराध क्षमा हों; मैं उन सब जीवों से क्षमायाचना करता हूँ।

हे प्रभो! मैं अज्ञानता से किये गये अपराधों का वर्णन कहाँ तक करूँ, मैं जिस पर्याय में गया उसी पर्याय में एकत्व बुद्धि स्थापित कर अपराधों की परंपरा प्रारंभ कर दी। मैंने चैतन्य स्वरूप, अनादि अनंत, क्षमादि गुणों का भंडार; शरीर-मन-वाणी, मोह-राग-द्वेष, यहाँ तक कि क्षणस्थायी पर लक्ष्यी बुद्धि से भिन्न, ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को भूलकर असमानजातीय द्रव्य पर्याय (मनुष्य, स्त्री, पुरुष, बाल, युवा) में अपनापन करके त्रस-स्थावर जीवों की विराधना की, मिथ्यात्व, पाँच पाप, पाँच इन्द्रियों के विषय और चार कषायों का सेवन किया, स्व व पर को पर्याय रूप ही देखा यह महा अपराध है; हे प्रभो! मैं इन अपराधों की क्षमायाचना करता हुआ निरपराधी होने की भावना भाता हूँ।

इस तरह हम अपने परिणामों का प्रक्षालन कर, सच में अपने द्वारा किये गये दोषों का परिमार्जन कर क्षमापर्व को मनाने की सार्थकता की ओर प्रथम कदम उठा सकते हैं।

क्षमा याचना

❑❑❑

परिशिष्ट 1

क्षमापर्व

यह क्षमापर्व का दिवस एक, सन्देश महा लेकर आया।
जो हृदय युगों से टूट चुके, यह यह उन्हें शक्ति देने आया।।
बिखरी मणियाँ अनमोल अरे!, अनमोल अरे! बिखरे मोती।
ऐ! बिखर-बिखर हँसने वालों, जगती तुम पर रोती होगी।।
यह क्षमा प्रेम का अग्रदूत, मल-मल कर कालिख धोता है।
भर-भरकर देता अमृतप्याली, यह बीज मुक्ति का बोता है।।
लानत है ऐसे जीवन पर, मद-निर्झर झर-झर झरता हो।
चाहे भाई झोली फैला, दर-दर की ठोकर सहता हो।।
यह भावों का संसार यहाँ, वचनों का कोई तोल नहीं।
रत्नों की ढेरी में होगा, क्या काँच खण्ड का मोल कहीं?
हम कीट वासना के क्या इस, दिन का सब मोल चुका देंगे।
बस क्षमा कीजिए कहकर क्या, जग का वैषम्य मिटा लेंगे।।
यह पर्व सिखाता है हमको, जग का जग को देते जाओ।
जीवन की नौका हल्की कर, भव-सागर से खेते जाओ।।
तब निखर उठेगा यह मानस, यह क्षमा करेगा कंचन-सा।
छा जावेगा यह जीवन में, शिशु पर माता के अंचल-सा।।
फिर एक वर्ष के बाद अरे, क्यों आवे ऐसा पर्व कहो।
हे महाशान्ति के महापर्व, जीवन में हरदम साथ रहो।।
तब एक-एक क्षण जीवन का, बस पर्वराज बन जावेगा।
यह जीवन है, यह पर्वराज, यह भेद नहीं रह पावेगा।।।
फिर अपने और पराये की, नहीं जीवन में दुविधा होगी।
फिर कौन क्षमा का पात्र कहा? जब क्षमामयी वसुधा होगी।।

- बाबू जुगलकिशोर युगल, कोटा

परिशिष्ट 2

शुद्ध चेतन तत्त्व की उपासना - दशलक्षण धर्म...

दशलक्षण धर्म अथवा धर्म के दशलक्षण अनेक भारतीय दर्शनों का बहुचर्चित विषय है। फिर भी चिन्तन की विविधताओं एवं हीन स्वार्थ की पराकाष्ठाओं से सम्भवतः धर्म के स्वरूप की जैसी मिट्टी-पलीत हुई है, वैसी और वस्तु की नहीं। सन्तों की स्वरूप-लीनता से लेकर धूम्रपान का दान करना भी धर्म घोषित किया गया है। इसका फल यह हुआ कि आत्मा अपने ही मंगलमय स्वरूप से वंचित रह गया।

धर्म के विषय में जैनदर्शन का चिन्तन एकदम मौलिक एवं हृदयग्राही है। उसके स्वरूप के अनुसंधान में इस दर्शन में कहा कि - वस्तु का स्वभाव ही धर्म है - वत्थु सहावो धम्मो। यह परिभाषा पर्याप्त संगत प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें धर्म का आधार धर्मी अर्थात् एक वस्तु को ही स्वीकार किया गया है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता एवं दीपक का धर्म प्रकाश। वस्तु के धर्म का पता करना हो तो स्वयं वस्तु के पास जाना होगा।

अतः धर्म की यह परिभाषा निर्विवाद है, क्योंकि यह गढ़कर तैयार नहीं की गई है। जहाँ परिभाषायें गढ़ी जाती हैं, वहाँ निश्चित ही विवादों का सृजन होता है।

अनन्त जड़ एवं अनन्त चेतन के समुदाय इस अनादि अनन्त विश्व में जड़ का धर्म जड़ता एवं चेतन का धर्म चेतना (ज्ञान-दर्शन आदि) होती है। वस्तु को परमुखापेक्षिता से सुरक्षित रखने के लिए ऐसे धर्म अर्थात् शक्तियाँ प्रत्येक वस्तु में अनन्त होती हैं। एक-एक परमाणु अनन्त शक्ति समन्वित है। ये शक्तियाँ वस्तु के शाश्वत धर्म हैं, जिनकी अभिव्यक्ति परिणति में होती है। शक्ति शाश्वत एवं परिणति क्षणिक होती है। परिणति में दो विकल्प होते हैं। जैसी शक्ति है, वैसी ही अभिव्यक्ति हो तो उसे स्वाभाविक परिणति अर्थात् धर्म कहते हैं और शक्ति के विपरीत परिणति हो तो उसे विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं। जैसे एक तोते में कठोर वस्तु को

काट देने की शक्ति सदैव विद्यमान होने पर भी अपनी शक्ति का विस्मरण कर वह नलिनी को पकड़ कर उलटा लटक जाता है और मानता है कि नलिनी ने उसे पकड़ लिया है, जबकि नलिनी को तोड़ देने की शक्ति उसमें उस समय भी पूरी की पूरी विद्यमान है। परिणति के इस विपर्यय को विभाव अर्थात् अधर्म कहते हैं ।

वस्तु व्यवस्था के इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम आत्मा के धर्म की मीमांसा करें तो आत्मा भी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र एवं आनन्द आदि अनन्त शक्ति सम्पत्ति का धाम, एक, अनादि, अकृत्रिम, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष तत्त्व है; किन्तु अपने शक्ति सौन्दर्य के अनादि अबोध के कारण उसे अत्यन्त भिन्न देहादि जड़ सत्ताओं में ही निजत्व की प्रतीति रही है। तब यह स्वाभाविक है कि कल्पित निजत्व में ही निरन्तर उसका आचरण समाहित हो। फल यह होता है कि देहादि पर सत्ताओं को वह हर मूल्य पर अपने अधिकार में रखना चाहता है; किन्तु वे अत्यन्त स्वतंत्र होने से उनमें इसका अधिकार साकार नहीं होता। अतः क्रोध का जन्म होता है। कभी आत्मा को पर सत्ताओं में अपने प्रयत्नों की सफलता-सी लगती है तो उसका मान मचलने लगता है। किन्तु उस सफलता का श्रेय आत्मा को नहीं, वरन् वस्तु की शृंखलाबद्ध स्वतंत्र कार्य प्रणाली को ही जाता है। अतः मान नीच वृत्ति है। अनधिकृत वस्तुओं के क्रिया-कलापों को किसी भी प्रकार अपने अनुकूल बनाने के विफल एवं गर्हित प्रयास को मायाचार एवं उनकी तीव्र लिप्सा को लोभ कहते हैं।

विकार के अन्य रूप जैसे असत्य, असंयम, अतप, अनाकिंचन्य एवं अब्रह्म प्रकारान्तर से क्रोध-मान-माया-लोभ के ही पर्याय हैं। वास्तव में ये आत्मा के चारित्रिक विकार के ही दशरूप हैं, जो पराचरण से निर्मित होते हैं और आत्मा में रमणीय स्वरूप की अज्ञता में इनका जन्म होता है। जैनदर्शन इन्हें अधर्म एवं अपराध कहता है और वृत्तियों में आत्मा को अपने आनन्दमय स्वरूप से च्युत होने के कारण प्रचण्ड आकुलता का वेदन होता

है। इन्हीं वृत्तियों को विकार की न्यूनता में पुण्य एवं विकार की अधिकता में पाप कहा जाता है। कर्मबन्ध का निमित्त भी अज्ञानमय ये वृत्तियाँ ही होती हैं। ऐसी लोकनीति भी है – स्वच्छ एवं स्वस्थ लोक जीवन से ये अपेक्षायें की जाती हैं कि मनुष्य का आचरण अनधिकृत में न हो, अन्यथा वह दण्डनीय अपराध होता है।

इसी प्रकार स्वतंत्र वस्तु व्यवस्था पर आधारित जैन आचार संहिता की अपेक्षायें हैं कि पवित्र ज्ञानमय आत्मा की वृत्तियों का विहार परद्रव्य में न हो, क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द निकेतन है। अतः उसके अनेक रूप होते हैं, किन्तु आरोग्य अनेक प्रकार का नहीं होता। अनेक प्रकार के रोगों के अभाव में सभी को आरोग्य एक ही प्रकार का उपलब्ध होता है। ऐसे ही आत्मा की स्वस्थ दशा अर्थात् स्वरूप लीनता ही एकमात्र धर्म है; जिसे क्रोध के अभाव में क्षमा, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव एवं लोभ के अभाव में शौच आदि दश संज्ञाओं से कहा जाता है।

धर्म के क्षमादि दश लक्षण मात्र किसी जैन परिवार की अपेक्षायें नहीं वरन् जीवन तत्त्व होने से वे प्राणिमात्र की आवश्यकतायें हैं। क्रोध एवं मान आदि दुर्वृत्तियों से मात्र कोई जैन ही व्याकुल नहीं होता, सभी प्राणी सर्वत्र एवं सदैव ही परेशान होते हैं। अतः इनका निर्वासन सभी के लिए महासुखद होता है। जीवन के व्यवहार में भी कोई व्यक्ति क्रोध सदा नहीं कर सकता। यदि वह व्यक्ति का धर्म हो और सुखद हो तो उसके सदैव बने रहने की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु विश्व में ऐसी एक भी घटना उपलब्ध नहीं होती।

एक बार उत्पन्न हुआ क्रोध निश्चित ही नष्ट होता ही होता है, फिर भले ही वह पुनः उत्पन्न हो सकता है और स्वरूप लीनता में तो उसका सर्वनाश ही हो जाता है और वह पुनः उत्पन्न ही नहीं होता । अतः परावलम्बी क्रोध के क्रमिक अभाव में आत्मा की वृत्ति जिस ओर गमन करती है और अन्त में जहाँ जाकर विश्राम लेती है, उसे ही स्वभाव कहते हैं। अतः त्रिकालाबाधित सत्य है कि प्रत्येक वस्तु विभाव के अभाव में स्वभाव का

ही स्पर्श करती है। जैसे अग्नि से अलग कर देने पर पानी अपने शीतल स्वभाव की ओर स्वयं ही गतिमान होता है।

सचमुच तो आत्मा सदा स्वयं ही अनन्त शक्ति अर्थात् अनन्त धर्ममय अक्षय सत्ता है, किन्तु जगत के अन्य पदार्थों से उसे अपनी अक्षय सत्ता की हानि का भ्रम हो जाता है और यही भ्रम अर्थात् अज्ञान सर्व विकारों की जन्म स्थली है। अतः विकार अर्थात् अनन्त कष्टों से मुक्ति होने के लिए अपनी निरापद शुद्ध चैतन्य सत्ता का चिन्तन एवं अनुभूति ही एकमात्र पथ है।

दशलक्षण महापर्व उसी रमणीय चैतन्य के अनुभव की पुनीत प्रेरणायें लेकर आता है। सचमुच ये धर्म के दस दिन नहीं, वरन् अब तक यदि धर्म नहीं सीखा गया हो तो धर्म सीखने के दस दिन हैं और यदि सीख लिया गया हो तो आत्मसात् करने के अनमोल क्षण हैं। दस दिन की उपलब्धि से हमारे जीवन का हर भावी क्षण दशलक्षण पर्व बन सके तो ही इनकी सार्थकता है। निश्चित ही अपने शुद्ध चेतन तत्त्व की उपासना के रूप में वह पर्व प्रतिपल ही अभिनन्दनीय है और चिर–शान्ति के लिए जगत के सभी प्राणियों की एकमात्र आवश्यकता के रूप में इस पर्व की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता निर्विवाद है।

- बाबू जुगलकिशोर युगल, कोटा

पतन के लिए अहंकार ही काफी है, बंधन के लिए कषायें ही काफी हैं।
इसीलिए कहता हूँ छोड़ दो इनको, भगवान बनने के लिए सम्यक्त्व ही काफी है।।

***

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे ही हो तू तृप्त, तुझ सौख्य उत्तम परिणमे।।

***

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।

दशलक्षण पर्व पर सादर निवेदन

धर्मप्रेमी बन्धुओ,

दशलाक्षणी पर्व के दस दिवस जीवन के महत्त्वपूर्ण दिवस हैं। इस मांगलिक अवसर पर हमारा आपसे हार्दिक निवेदन है -

1. दशलक्षण पर्व भोग के नहीं योग के, राग के नहीं त्याग के पर्व हैं। इन पर्वों को देव-शास्त्र-गुरु की यथायोग्य आराधना करके एवं संयम, सदाचार पूर्वक ही मनावें। 2. आपके नजदीक जहाँ भी त्यागियों/विद्वानों के प्रवचन हों, समय निकालकर सुनने अवश्य जावें, जिनवाणी सुनने से ही धर्म का सत्य स्वरूप ज्ञात होगा। 3. यदि आपके बच्चे प्रातः विद्यालय जल्दी जाते हों तो उन्हें दिन में या सायंकाल मन्दिर जाने व पर्व सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने हेतु अवश्य प्रेरित करें। 4. सांस्कृतिक कार्यक्रमों में ज्ञानवर्धक प्रश्नोत्तरी, धार्मिक पूजन-भजनों पर आधारित अन्त्याक्षरी, महापुरुषों के जीवन पर आधारित संवाद आदि कार्यक्रम ही आयोजित करावें। मात्र मनोरंजन के नाम पर नृत्य/मेंहदी/फैन्सी ड्रेस प्रतियोगिता जैसे कार्यक्रम कर अपने महत्त्वपूर्ण दिवसों का दुरुपयोग न करें। 5. सभी विद्वज्जन जिनवाणी के माध्यम से संयम/सदाचार/भक्ति/तत्त्व की चर्चा करके लोगों को धर्म के प्रति आकर्षित होने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देवें। तेरापन्थी/बीसपन्थी/सोनगढ़ी आदि मतभेद पैदा करने वाली चर्चायें न करावें। 6. यह पर्व कषाय घटाने/मिटाने के पर्व हैं, बढ़ाने के नहीं। मतभेद बढ़ाने के नहीं, मतभेद व मनभेद मिटाने के पर्व हैं। इन्हें यही मानकर मनावें । 7. आपको जो पद्धति अच्छी लगे, उसी के अनुसार धर्माराधन करें पर दूसरों के ऊपर दबाव न डालें और दूसरों की आराधना में विघ्न/बाधा न हो - ऐसा कार्य करें।

आओ सुखदायक, पुण्यवर्धक पर्व को आत्महित की भावना से मनाने का संकल्प करें।

- समर्पण द्वारा आत्महित में प्रसारित

श्री राम-नन्दिनी ग्रन्थमाला का तृतीय पुष्प

विलक्षण दशलक्षण

- राजकुमार शास्त्री

प्रकाशक

समर्पण चेरीटेबल ट्रस्ट

18 आदिनाथ कॉलोनी, केशवनगर, जिला-उदयपुर (राज.)

मो. + 91 94141 03492 Email - samarpan1008@gmail.com

डॉ. किरण शाह एवं श्रीमती मुग्धा शाह, पूना की ओर से उनके पूज्य पिता स्व. कस्तूरचन्द मोतीचंद शाह एवं माता स्व. प्रमिला कस्तूरचंद शाह की स्मृति में प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु 15000 रुपये की राशि प्राप्त हुई

प्रथम संस्करण	:	1000 प्रतियाँ, द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
दिनांक	:	दशलक्षण पर्व : 18 सितम्बर, 2015 भाद्रपद शुक्ला पंचमी, वीर निर्वाण संवत् 2541
प्राप्ति स्थान	:	समर्पण चेरीटेबल ट्रस्ट, उदयपुर + 91 94141 03492
लागत मूल्य	:	18 रुपये मात्र, पुनः प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : 15 रुपये मात्र

मुद्रक : प्री एलविल सन (संजय शास्त्री) बी. 180 मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर + 91 95092 32733

प्रकाशकीय

समर्पण द्वारा समर्पित साधर्मियों के सहयोग से अभी तक श्री राम-नन्दिनी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन एवं बढ़ते भगवान - घटते भक्त के तीन संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं।

गत वर्ष राजकुमार शास्त्री द्वारा लिखित 'विलक्षण दशलक्षण' 'कर्म बिचारे कौन?' एवं 'बढ़े सो पावे' निबंध संग्रह प्रकाशित किये गये थे।

पाठकों ने उक्त पुस्तकों को प्रकाशन के पूर्व तो पसंद किया ही, प्रकाशन के बाद भी इन्हें हाथोंहाथ लिया, जो कि इन पुस्तकों की विषय-वस्तु की आवश्यकता की ओर इंगित करता है।

'विलक्षण दशलक्षण' का पहला संस्करण मात्र छह माह में समाप्त हो गया, जो अपनी उपयोगिता को दर्शाता है। अतः यह द्वितीय संस्करण पाठकों को भेंट करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

समर्पण अनुपलब्ध या नवोदित लेखकों के स्तरीय साहित्य प्रकाशन की भावना रखता है। यदि आपके पास ऐसा कोई साहित्य हो तो हमें जरूर उपलब्ध करवावें, हम आपके ही सहयोग से यह कार्य सम्पन्न कर गौरवान्वित अनुभव करेंगे। यदि आप हमारी भावनाओं से सहमत हैं, जन-जागरण हेतु समर्पित हैं तो अपना समर्पित सहयोग प्रदान कर हमारा संबल बढ़ा सकते हैं।

हम ग्रन्थमाला संचालक परिवार, लेखक, प्रकाशन सहयोग हेतु डॉ. किरण शाह, पूना एवं मुद्रण हेतु संजय शास्त्री, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

निवेदन – समर्पण एक छोटी-सी संस्था है, जो आपके सहयोग से समाज में कुछ करना चाहती है। यदि आप हमारे विचारों से सहमत हैं तो आप भी आर्थिक सहयोग प्रदान कर या अपनी सहमति देकर हमारा उत्साहवर्धन कर सकते हैं। यदि कोई भाई हमें अर्थ सहयोग न देकर सीधे ही इच्छुक को देना चाहें तो भी हमें अपनी सहमति दे सकते हैं; आवश्यकतानुसार हम इच्छुक को आपसे संपर्क करने हेतु भी सूचित कर सकते हैं। साहित्य प्रकाशन सहयोगी बन सकते हैं।

– समर्पण चेरीटेबल ट्रस्ट

जाने–अनजाने जीवन में अपराध बहुत से होते हैं।
हैं वही विवेकी भव्य धन्य, जो क्षमा नीर से धोते हैं।।
हे भ्रात कलुषता दूर करो, हम दूर भ्रान्तियाँ करते हैं।
तुम क्षमा करो प्रियवर हमको, हम क्षमा सभी को करते हैं।।

– राजकुमार शास्त्री

मन की बात

ध्रुवधाम पत्रिका के सम्पादकीय के रूप में धर्म के दशलक्षणों में से 8 लक्षणों पर 2007 में लिखा था। ध्रुवधाम में पंचकल्याणक महोत्सव होने से पत्रिका में उसकी ही मुख्यता से 3–4 माह लिखना हुआ जिससे इन लेखों का लेखन बंद हो गया। फिर आलस्यवश लिखा नहीं गया।

इस वर्ष कुछ समय मिलने से एक बार उस लेखमाला पूरा कर पुस्तकाकार प्रकाशित कराने का विचार बना, उस विचार का मूर्त रूप ही यह पुस्तक है।

कुछ भी लिखने के प्रेरणास्रोत के रूप में मैं मेरे गुरुजी आदरणीय दादा द्वय पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल व डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल को ही मानता हूँ, जो रात–दिन साहित्य सेवा कर रहे हैं।

प्रकाशन से पूर्व कई विद्वान साथियों को सम्मति हेतु ये लेख भेजे, जिनमें से भाई अजित जैन, अलवर और संजय शास्त्री, जयपुर ने ही अपने विचारों से अवगत कराकर प्रकाशन हेतु प्रोत्साहित किया।

इस पुस्तक में, कुछ नया नहीं है; मात्र संक्षेप में निश्चय–व्यवहार की संधि पूर्वक आगम के उद्धरणों के साथ विषय को प्रस्तुत किया गया है। इसे अगर कोई संकलन भी समझे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है; परन्तु इतना विश्वास है कि नये वक्ताओं व पाठकों को जरूर उपयोगी रहेगी।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने हेतु आदरणीय बाबू युगलजी, कोटा के लेख, कविता तथा अन्य कवियों द्वारा लिखित कविता व मुक्तक भी संकलित हैं।

सच तो यह है कि पुस्तक में सब आचार्यों/विद्वानों का ही है, मैंने तो अपनी रुचि व मति के अनुसार संकलित कर व्यवस्थित किया है। वह कितना व्यवस्थित बन पड़ा है – विज्ञ पाठक ही इसका निर्णय करेंगे एवं आवश्यक/उचित मार्गदर्शन भी करेंगे।

धन्य हैं वे ज्ञानी धर्मात्मा, जो दशलक्षणों को धारण कर निजानंद में केलि करते हैं, हम तो उन्हें तथा आनंदमयी दशलक्षणों को सादर वन्दन करते हैं।

– सलाह–सुझाव–सहयोग अपेक्षित है।

– राजकुमार शास्त्री, 'शाश्वतधाम', उदयपुर

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ
1.	परम पुनीत पर्व यह पावन...	1
2.	भव आताप निवार, दशलक्षण वन्दौं सदा...	2
3.	उत्तम क्षमा गहो रे भाई...	5
4.	उत्तम मार्दव विनय प्रकाशै...	11
5.	उत्तम आर्जव कपट मिटावै...	15
6.	उत्तम शौच लोभ परिहारी...	19
7.	सत्वादी जग में सुखी...	24
8.	संयम रतन सँभाल...	30
9.	तप चाहैं सुरराय...	35
10.	उत्तम त्याग करै जो कोई...	39
11.	परिग्रह चिन्ता दुःख ही मानो...	44
12.	ब्रह्मभाव अन्तर लखो...	48
13.	उत्तमक्षमा धरै जो कोई, अन्तर बाहर शत्रु न कोई...	51
14.	क्षमापर्व (कविता)	55
15.	शुद्ध चेतन तत्त्व की उपासना - दशलक्षण धर्म...	56
16.	दशलक्षण पर्व पर सादर निवेदन	60

निज आत्मा को जानना पहचानना उत्तम क्षमा।
मैं करूँ निज को क्षमा, तुम भी करो निज को क्षमा।।
मैं करूँ तुमको क्षमा, मुझको क्षमा कर दीजिए।
क्रोधाग्नि का परित्याग कर, निज शान्त रस को पीजिए।।

– राजकुमार शास्त्री